समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ

संपादक

अरुण होता

समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ

संपादक
अरुण होता

सह-संपादक
डॉ. विनोद कुमार

सर्वप्रिय प्रकाशन
कश्मीरी गेट, दिल्ली

अनुक्रम

भूमिका	अरुण होता	9

चुनौतियाँ और संभावनाएँ

पश्चिम के आतंक से मुक्ति का संघर्ष	केदारनाथ सिंह	11
समकालीन हिंदी कविता : नई चुनौतियाँ	जितेन्द्र श्रीवास्तव	19
समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ	मनीषा झा	25
समकालीन साहित्य और समस्याएं	जीतेन्द्र गुप्ता	30
समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ (संदर्भ : केदारनाथ सिंह की कविता)	हृषिकेश कुमार सिंह	42

हाशिए का समाज और कविता

समकालीन कविता में दलित चेतना	विजय कुमार भारती	48
समकालीन दलित कविता में प्रतिरोध का स्वर	विनोद कुमार	55
समकालीन आदिवासी कविता : संभावनाएँ और चुनौतियाँ	मेरी हाँसदा	61
हाशिए से बेदखली के विरोध में नगाड़े की तरह बजते-शब्द	अल्पना नायक	68
समकालीन परिदृश्य में आदिवासी कविता	धनंजय कुमार साव	74
समकालीन कविता में मजदूर और किसान	रचना पांडेय	81
गरीबी से नहीं, अपमान से डर लगता है...	रीता दास	87

स्त्री आख्यान

समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री	प्रतिभा प्रसाद	92
समकालीन कविता में स्त्री का वृत्तांत	श्वेता वर्णवाल	95

कविता के परिप्रेक्ष्य

समकालीन कविता में समाज व परिवेश	रेशमी पांडा मुखर्जी	99
समकालीन कविता की संघर्षशीलता	रमेश यादव	105
समकालीन कविता में बदलते मूल्यों की चिंता	सुलोचना दास	108
समकालीन हिन्दी कविता में लोक (संदर्भः केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, और जितेन्द्र श्रीवास्तव)	मृत्युंजय पाण्डेय	118
भूमण्डलीकरण और समकालीन कविता	मीरा साव	132
समकालीन कविता में मानव संसक्ति	शगुफ्ता यास्मीन	136

कवियों का संसार

समकालीनता और धूमिल	श्रीपर्णा तरफदार	140
बहुधर्मी कवि केदारनाथ सिंह	अभिजीत सिंह	146
पंकज सिंह की कविता : सोच के नये आयाम	मकेश्वर रजक	152
बद्रीनारायण के काव्य-जगत की समकालीनता	बीरेन्द्र सिंह	158
अनामिका का काव्य : स्त्री विद्रोह का आख्यान	प्रियंका कुमारी सिंह	166

भूमिका

कविता पाठक को उद्वेलित करनेवाली अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति से गुजर कर अथवा उसका साक्षात्कार करने के पश्चात् पाठक आनंदित हो सकता है तो क्षुब्ध भी। हो सकता है कि उसमें प्रेम के भाव जाग्रत हों अथवा क्रोध के। उसमें क्रांति की भावना उत्पन्न हो सकती है अथवा शांत दशा की। आशय यह कि जिस अभिव्यक्ति में पाठक के हृदय में भाव उद्वेलन की सामर्थ्य होती है वह सार्थक होती है। कवि कर्म भी सार्थक माना जाता है। बहरहाल, इस कविता विरोधी समय में कविता पर बातें करना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। दशकों से 'कविता की मौत' की उद्घोषणा बार-बार दुहराई जा रही है। बावजूद इसके, कविताएँ लिखी जा रही हैं। खूब लिखी जा रही हैं। यह कविता की प्रतिरोधी प्रवृत्ति है। कविता ही नहीं साहित्य की प्रत्येक विधा मानवताविरोधी ताकतों को चुनौती देती है। मानवता का पक्ष लेती है। मनुष्यता को सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है।

कविता समय और समाज की उपज होती है। समय और समाज के यथार्थ को कविता संवेदनात्मक धरातल पर अंकित करती है। समकालीन हिंदी कविता समय के अंतर्विरोधों, विसंगतियों तथा सच्चाइयों को शिद्दत के साथ प्रस्तुत करने में सदा सक्षम है। खुशी की बात है कि समकालीन कविता में पांच पीढ़ी के कवि आज सृजनरत हैं। पहली पीढ़ी में कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, नरेश सक्सेना आदि वरिष्ठतम कवि हैं तो दूसरी पीढ़ी में आलोकधन्वा, राजेश जोशी जैसे वरिष्ठ कवि आते हैं। अरुण कमल, एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, मदन कश्यप, हरीशचंद्र पांडेय, पवन करण, जितेंद्र श्रीवास्तव, श्रीप्रकाश शुक्ल, कात्यायिनी, अनामिका, नीलेश रघुवंशी, निर्मला पुतुल आदि तीसरी-चौथी पीढ़ी में सक्रिय हैं तो एक युवतर पीढ़ी के कवि सुरेश सेन 'निशांत', बहादुर पटेल, उमाशंकर चौधरी, ज्योति चावला, कुमार अनुपम, अशोक कुमार पांडेय, प्रांजल धर आदि तमाम नाम कविता के संसार को विविधताओं से परिपूर्ण कर रहे हैं। समकालीन कविता ने निश्चित तौर पर हिंदी कविता को समृद्ध तथा बहुरंगी बनाया है।

साठोत्तरी हिंदी कविता में मोहभंग का स्वर प्रबल रहा तो आज की कविता में प्रतिरोध और पक्षधरता की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह कविता अपने समय और समाज की खामोशी को दर्ज करनेवाली कविता है। प्रतिकूल समय और संकटों से घिरे मनुष्य की त्रासदियों

को अंकित करनेवाली कविता का नाम समकालीन कविता है। सूचना-प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, मीडिया, बाजार, धर्म, पूँजी और बाहुबल पर आधारित राजनीति, पर्यावरण-संकट, नारी-दलित-आदिवासी चिंता, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण की राजनीति, राजनीति का अपराधीकरण आदि तमाम विषयों से समकालीन कविता अछूती न रही। बल्कि समकालीन कविता में अपने समय के विरोध में खड़े होने के लिए ललकार है। अन्याय और अत्याचार, दमन तथा शोषण का प्रतिरोध करते हुए मनुष्य के पक्ष में खड़े होने के लिए आग्रह है। हिंसक बर्बरता, बाजार की चालाकियों, गुलामी आदि के विरोध में खड़ी है समकालीन हिंदी कविता।

ध्यान दिया जाना चाहिए कि पिछले साठ-पैंसठ वर्षों से 'समकालीन कविता' पदबंध प्रचलित होता आ रहा है। भाँति-भाँति के कवि और काव्य-संसार को इसी नाम से जाना-समझा जा रहा है। 'समकालीन' को रबड़ की तरह हम खींचते चले जा रहे हैं बिना यह समझे कि रबड़ की भी अपनी नमनीयता (इलास्टिसिटी) निश्चित रहती है। पश्चिम बंगाल राज्य विश्वविद्यालय में मार्च 2016 में आयोजित द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन वक्तव्य में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कृत कवि केदारनाथ सिंह ने इस विषय पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा था - "रही बात 'समकालीनता' की, यह शब्द आया और जल्द ही ये कॉन्टेम्परोरी के अर्थ में जाना गया। और जो भी कॉन्टेम्परोरी पोयट्री की चर्चा विदेशों में होती थी, उसकी देखा-देखी हिंदी में भी हुई। ... तो अगर, 65-67 के बीच ये शब्द करेंसी में आया, प्रवाह में आया और आगे ध्यान रहे इसका इस्तेमाल किया जाने लगा बातचीत में। और फिर, तब से करीब-करीब 60 वर्षों से हिंदी कविता समकालीन बनी हुई है। ये कुछ ज्यादा है। इतने लंबे कालखंड को लगातार समकालीन कहा जाए।" उन्होंने यह भी कहा कि एक नाम का लंबे समय तक चलना साहित्य के इतिहास में बहुत दुखद स्थिति है। 'समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ' शीर्षक विषय पर प्रसिद्ध युवा कवि एवं आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव, बहुचर्चित कवि अनिल मिश्र सहित अनेक कवि तथा अध्यापकों ने भी गंभीर विचार-विमर्श किया था। यह पुस्तक उस विचार-विमर्श का चयनित अंश है। संगोष्ठी में पढ़े गए कई आलेख इस पुस्तक में शामिल नहीं किए जा सके। उन आलेखों का प्रयोग कहीं और करने का विचार है।

पुस्तक में समकालीन कविता के विविध महत्त्वपूर्ण पहलुओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। मुझे पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक छात्रों, अध्यापकों तथा कविता प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

सर्वप्रिय प्रकाशन, दिल्ली ने सदा की भाँति इस पुस्तक का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन किया है। अतः उसके स्वत्वाधिकारी के प्रति हार्दिक आभार।

विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति तथा बांग्ला के कवि एवं कथाकार प्रो. बासब चौधरी के अकूत सहयोग और प्रोत्साहन हेतु हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। और अंत में इस पुस्तक पर सहृदय पाठकों, सुधीजनों एवं विद्वानों के सुझाव आमंत्रित हैं।

बारासात, कोलकाता ***-अरुण होता***

पश्चिम के आतंक से मुक्ति का संघर्ष

—केदारनाथ सिंह

राममय परिवेश में आया हूँ। और असली शांतिनिकेतन तो ये है। ये जो परिवेश है, पल्ली समाज, उसके बीच ये विश्वविद्यालय है न, बनता हुआ विश्वविद्यालय है। आकार लेता हुआ। और सबसे बड़ी खुशी मुझे यह हुई कि इस छोटे शहर में आया हूं तो लगा कि मैं जे.एन.यू. के अपने कक्ष में आया हूं, जहां बैठकर प्रायः पढ़ाया करता था। तो लगभग वैसा ही छोटा-सा ये कमरा है और उसमें आप सब बैठे हुए हैं और लगभग उतने ही छात्र हैं जितने मेरे साथ हुआ करते थे। और एक अच्छी बात ये रही कि हमारे दोनों ओर (दीवार की ओर इशारा करते हुए) इधर कबीरदास हैं और उधर प्रेमचंद हैं। और इन दोनों से मेरा एक नाता है। रहता दिल्ली में हूं, पर बनारसी हूं। ये दोनों बनारसी हैं। कबीरदास बनारसी हैं। इधर लमहीवासी प्रेमचंद भी बनारसी हैं।

हर भाषा के कई रूप होते हैं। तो उसमें हिंदी के एक रूप को साधु ब्रज बोला करते हैं। पर है तो हिंदी ही। कबीर की भाषा को ठीक किया जाए। उनकी भाषा को हिंदी ही कहा जाना चाहिए। बात यहीं से शुरू होती है। बात तो भाषा से शुरू होकर भाषा में ही हुजुर होती है। साहित्य भाषा में होता है। और समकालीन कविता पर बातचीत और इस ग्रामीण परिवेश में। इसमें बात, बहुत सुखद अंतर्विरोध है। क्योंकि दिल्ली में हो, कलकत्ते में हो, केंद्र में हो, कलकत्ता विश्वविद्यालय में हो। मामला कुछ तो अलग है। लेकिन इस ग्रामीण परिवेश में वह भी समकालीन ढ़ंग का मॉर्डन लेबोरेट्री है। दुनिया की सारी भाषाओं में- केदार की हिंदी में की जाय। बांग्ला में है ही। तो उसकी चर्चा की जायेगी। ये अपने आप में एक समर्थ सहयोग है। लेकिन बातचीत होनी चाहिए। बातचीत यानी जिस पर बातचीत होनी है वो तो बाद में। कविता पर लोग कविता सुनेंगे और बातचीत पहले हो रही है।

मुझसे कहा गया इस सत्र का उद्घाटन करने के लिए। और आठ-दस महीने में सात-आठ इस तरह की संगोष्ठियों का उद्घाटन तो मैं कर ही चुका हूं। ये उसी क्रम में सातवां-आठवां होगा। लगभग वही बातें हैं जो बार-बार की जाती हैं।

रही बात 'समकालीनता' की, यह शब्द, समकालीन कविता, जब से मैंने होश संभाला, लिखना शुरू किया तब से प्रयोग में है। साठ के दशक में। मेरी पहली किताब जो आयी। उससे कुछ बाद, ये 'समकालीन' शब्द आया और जल्द ही ये कॉनटेम्परोरी शब्द के रूप में आया। और जो भी कॉनटेम्परोरी पॉयट्री की चर्चा विदेशों में होती थी, अंग्रेजी में होती थी, उसकी देखा-देखी हिंदी में भी हुई।

समकालीन कविता, ये शब्द, कहां इसका जन्म हुआ, किस शब्द से कब आयी आदि। इसका इतिहास बगैरह नहीं लिखा गया है। इस पर काम करना चाहिए किसी को कभी। तो अगर 65-67 के बीच ये शब्द करेंसी में आया, प्रवाह में आया और आगे ध्यान रहे इसका इस्तेमाल किया जाने लगा बातचीत में। और फिर, और तब से करीब-करीब 60 वर्षों से हिंदी कविता समकालीन बनी हुई है। ये कुछ ज्यादा है। इतने लंबे कालखंड को लगातार समकालीन कहा जाए। 70 के बाद ज्यादा प्रेशर होने लगा। ये सोचना चाहिए कि लंबे समय से लिखी जाने वाली रचना को, कविता की तरफ से एक ही शब्द। लोगों को बच्चा होता है तो बिट्टू, पप्पू बगैरह नाम रखते हैं और बड़ा होकर अपना असली नाम से उसे पुकारते हैं। ये कविता का शुरू में जो नाम रखा गया वही नाम आज तक चल रहा है। एक नाम का लंबे समय तक चलना साहित्य के इतिहास में, हां ये बहुत दुखद स्थिति है। यानी इस पूरे अंतराल में क्या साहित्य में कविता पर नया नहीं हुआ? नए नामकरण की आवश्यकता कभी महसूस नहीं हुई? नया बच्चा पैदा होगा तो नए नामकरण होंगे। तो क्या कुछ बदला ही नहीं? इसका निष्कर्ष मुझे निकालना है।

लंबे समय से छायावाद, ज्यादा बड़ा फेवरेट नाम था, साहित्य के इतिहास में ऐसा कुछ हुआ हो। कितना समय मिला बेचारे को जिसमें कि महान कृतियां लिखीं गईं। अभी हम उनसे आगे नहीं जा सके। कालखंड की बात है। मुश्किल से 30 वर्ष शायद 35-36, जोड़ लीजिए। गणित कमजोर है मेरा। तो खुद जोड़ लीजिए। लेकिन इसके बाद नाम, फिर आया। प्रगतिवादी साहित्य आया। प्रयोगवाद, नई कविता आयी। समकालीन साहित्य आया। एक ही, शायद परिवर्तन है कि समकालीन शब्द अपनी जगह टंगा हुआ है, मेरे पूरे लेखन काल में देख रहा हूँ। इतने समय तक एक ही नाम से कविता क्यों जारी रही? क्या उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ? अगर नहीं हुआ... ऐसा नहीं कह सकते हैं। होते रहे। फिर चूक कहां हुई? या तो उसके लिए नया नामकरण किया नहीं गया। कहां क्या डिपार्टचर दिखाई पड़ता है, चेंज दिखाई पड़ता है। उसको ठीक से रेखांकित नहीं किया। इसकी पड़ताल की जानी चाहिए। चूंकि समकालीन कविता की चर्चा है इसलिए मैंने ये प्रश्न उठाया। और लगभग ये उतना जायज है कि एक रबर को दूर तक खींचिए तो नतीजा क्या होगा, टूट जायेगा। यानी लगभग समकालीन शब्द अपना अर्थ खो बैठा है। ये एक बड़ा सवाल है। जब भी हम समकालीन कविता पर विचार करें तो इस प्रश्न से भी उलझा करेंगे। मैं बांग्ला या अन्य भाषा की स्थिति नहीं जानता। मैं हिंदी के कवि की बात कर रहा हूं। और 20वीं सदी में जो नाम पैदा हुआ, रखा गया। 21वीं में हम खड़े हैं।

लगभग 15 वर्ष हो गए। इस लंबे कालखंड में पूरी कविता को हम एक नाम से जानते हैं, ऐसा स्वाभाविक नहीं है। तो... एक प्रश्न है, मैं यहां से बात शुरू करता हूं। कुल मिलाकर हम 2016 में खड़े हैं और ग्रामीण परिवेश में एक विश्वविद्यालय जहां से बातचीत कर रहे हैं। अच्छा लग रहा है। लेकिन 21वी सदी में अगर पीछे मुड़कर हम देखें और मैं हिंदी की बात करूंगा। हालांकि भारतीय कविता से उतना वाकिफ नहीं हूं। बंगाल में आता हूं। जब होताजी ने मुझसे फोन पर अनुरोध किया कि इस कार्यक्रम में आने की स्वीकृति दूं, तो मुझे दो सेकेंड भी नहीं लगा, हां करने में। क्योंकि बंगाल से एक तरह का लगाव महसूस करता हूं। सुभाष मुखोपाध्याय मेरे आत्मीय लोगों में से थे। वीरेंद्र दा हैं। शक्ति, सुदीप ये सारे मेरे अच्छे मित्रों में से हैं। तो आता हूं यहां पर तो नहीं लगता कि मैं हिंदी से बाहर की दुनिया में आ गया हूं। कलकत्ता में आना, वैसे भी यहां से मेरा पारिवारिक संबंध है। और कलकत्ते में, छोटा-सा, ग्रामीण परिवेश में, जो घर है। यह बहुत प्रचलित जगह नहीं है। उसके बीच हिंदी की समकालीन कविता, मैं नहीं जानता कि उस कविता से आप कितना परिचित हैं, क्योंकि उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण हुआ है, जो मुक्तिबोध में है, अज्ञेय में है.... इन सबकी कविता, इन सब को मिलाकर समकालीन कहते हैं। आज उसका बहुत बड़ा हिस्सा यहां से वहां तक फैला हुआ है। लेकिन क्या आज का जो माहौल है- सामाजिक, राजनीतिक, भाषा में राजनीति। वो कविता के सामने क्या चुनौतियां प्रगट करती हैं? क्या कुछ चुनौती नहीं है? मेरा तर्क है सबसे अधिक कारुणिक समय में कविता लिखी जाती है। और त्रिशुल नहीं है जो समाज को बदल दे। उसको और समकालीन, ठीक से बनाने या इससे बेहतर किसी देश में जाने के लिए लगातार प्रयास होते रहते हैं। वो प्रयास जिस तरह से होने चाहिए और जो ताकतें कर सकती हैं, वो मुझे... जो सत्ता में हैं, क्या कर रहे हैं? जो प्रश्न नहीं उठाए जाते। वो प्रश्न उठाए जाते हैं।

हिंदी कविता, सबसे बड़ा सवाल, मैं तो... थोड़ा-सा देशद्रोही हूं, क्योंकि जे.एन.यू का हूं। जे.एन.यू का ठप्पा लगा दिया गया है। जो.. मैं पूरे दावे से कह सकता हूं। 25-30 वर्षों से मैंने सेवा की और आज भी कर रहा हूं विश्वविद्यालय की। जे.एन.यू सब कुछ हो सकता है। देशद्रोही कदापि नहीं हो सकता। और जो एक राष्ट्र निर्माण कर रहे हैं... कल्पना कल्पना केवल भारतीय सत्ता में बैठे लोगों ने उसका एक मूल रूप खड़ा किया हो ऐसा नहीं है। आज की बौद्धिक दुनिया में जो एक छत बनी है भारतीय राष्ट्र को उसको बनाने में जिन विश्वविद्यालयों का योगदान है, उसमें जे.एन.यू का भी योगदान है। तो उसको भी आकार मिला। ये सब कुछ है। ये सारा कुछ करने वाला राष्ट्रद्रोही कैसे हो सकता है? नारे लगाये गए होंगे। मैं अभी उसमें नहीं जाऊंगा। उसकी जांच-पड़ताल... नारे लगाए गए। उसको नारे नहीं लगाने चाहिए। जे.एन.यू के लोगों ने नहीं, बाहर से आए लोगों ने नारे लगाए थे। सारी सुविधाएं हैं। जासूसी करते हैं। पर... एक व्यक्ति नहीं पकड़ाया। कहां से आए थे नारे लगाने वाले। इसमें संदेह की कोई गुंजाईश नहीं कि कौन जाने वो कहां से आए हो। ये सारी बातें हैं। लेकिन ये सब बातें मैं उस संदर्भ के रूप में आपके सामने रख रहा हूं जिस इतिहास के परिदृश्य में हम जीवित हैं।

कविता जीवित है। कविता मरी नहीं है। और मैं कहूं पिछले एक दशक में जो सबसे पावरफुल लिटररी डॉक्यूमेंट, जो मेरे सामने से गुजरा है, जिसको मैं कविता कहना चाहूंगा। वो रोहित वेमुला का पत्र है। मैंने उस पत्र को खरीदा था। रोहित वेमुला जिसने आत्महत्या की समाज के पिछड़ेपन के कारण। कविता की पंक्ति है 'मैं खाली हूं'... 'I'm Vacant'... उस पत्र को पढ़ें तो लगभग हमारे समय की, पिछले दस-पंद्रह साल की सबसे बड़ी रचना है। वह है, एक महान रचना है अपने आप में और लगभग कविता की ऊर्जा से भरी हुई रचना है।

हिंदी कविता, आज की हिंदी कविता, एकदम इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता। मैं एक छोटी-सी हिंदी की कविता आपके सामने पढ़ना चाहता हूं। और एक युवा कवि, कविता के समाज में रहना खेलना है। हमारी सदी में आकर, खासतौर पर इक्कसवीं सदी में आकर समाज के वो हिस्से जो कभी आदमी की दुनिया में गिना नहीं जाता। आदिवासी लोग, दलित, स्त्रियां। और तो और आजकल मुस्लिम कोटि भी गिने जाते हैं। मुस्लिम कोटि वो हैं जो खुद मुसलमानों के कट्टर तत्व हैं।

आज बिल्कुल अलग ढंग की कविता लिखी जा रही है। कविता का सामाजिक इतिहास बड़ी तेजी से बदल रहा है। ये एक लगभग एक आदिवासी कवि की कविता मैं सुना रहा हूं आपको-

झाड़ू एक कविता संकलन है
जैसे कविताओं की पंक्तियां सिरजती हैं
झाड़ू किसी के नहीं
बहुत सारी सींके एक वृत्त में बंधी हैं
ये वृत्त उस स्त्री ने बांधी है
जिसने इसकी रचना की है
दुनिया के सभी झाड़ू
दुनिया के हाथों के छोटे बेंड हैं
जब झाड़ू नहीं थे
हाथ झाड़ू का काम करते थे
इकलौते अब नहीं कहे जा सकते हाथ
इंसान के हाथ में झाड़ू आ जाने के बाद
घर आंगन तो वही है
लेकिन झाड़ू के आने के बाद
वह फैल गया है बहुत अधिक
धूप की झाड़ू
हवा की झाड़ू
बारिस की झाड़ू

पृथ्वी के पास कितने रंगों के मिलते झाड़ू
झाड़ू की दुनिया अपने ढंग से काम कर रही है
पूरी दुनिया में
जिसे सबसे अधिक संभाले हुए हैं स्त्रियां।

यह युवा कवि प्रभात, राजस्थान के पिछड़े इलाका से आते हैं। यह एक लंबी कविता है। और विलक्षण कविताएं लिखी हैं प्रभात ने। इस बीच जो संग्रह मैंने पढ़े हैं उसमें प्रभात का यह संग्रह एकदम नए अंदाज में आया है। नई भाषा। इसमें राजस्थानी के ठेठ प्रयोग हैं। एक स्थानीयता। लोकोलिज्म। एक कविता आती है और अटैक करती है आज की पूरी भाषा पर और जड़ीभूत सौंदर्य पर। उस सोच पर कविता करवटें ले रही हैं। इक्कीसवीं सदी की कविता इस प्रकार की रचनाओं में आकार ले रही हैं। यह अपनी पूरी बनावट में, अपनी अनुभूति, आंतरिक संरचना, उसमें 20वीं सदी से कहां अलग हो रही है? ये पड़ताल करने की जरूरत है। पर हो रही है, ऐसा मेरा मानना है। क्योंकि पहली पंक्ति एक हमला है। 'झाड़ू एक कविता संकलन है' यह कहने का साहस, ये हमारी बनी-बनायी जो सौंदर्य की अवधारणा है उस पर चोट करने वाली पंक्ति है। मैं फिर कहता हूं 20वीं सदी के बाद ये नई करवटें हैं कविता की। और ऐसा बहुत कुछ है जिसकी पड़ताल की जा सकती है। मैं विशेष रूप से हिमाचल के कुछ कवियों से मिला और एक कवि ने एक सवाल उठाया। दूसरी आज की कविता में एक बड़ा झगड़ा है जिसको कि मॉर्डन पॉयट्री कहते हैं। मॉर्डन पॉयट्री के सामने समस्या क्या है? आज फ्रांस में कोई मॉर्डन पॉयट्री नहीं पढ़ता। पेरिस जो केंद्र हुआ करता था, वो कविता केंद्र अब नहीं है। मैं पिछले दिनों फ्रांस गया था। मैंने तलाश की सबसे बड़े कवि, फ्रांस के अंदर हैं उनका नाम बोल्सफायर, फिलोसॉफर भी हैं। उनकी कविता कहीं किसी दुकान पर नहीं मिली। मैंने उस, बहुत बड़ी, सबसे बड़ी दुकान में पूछा 'भाई कहीं ये बिकती क्यों नहीं?' बोल्सफायर सबसे बड़े रचनाकार हैं। पूरी दुनिया में उनका नाम है, लेकिन किताब नहीं बिकती। विमर्श के साथ, जो नारी मुक्ति आन्दोलन के बड़े नेता हैं, उनकी पुस्तक छपी। उनकी पुस्तक खरीदने के लिए लाईन लगी है। लेकिन बोल्सफायर की पुस्तक खरीदने वाला कोई नहीं। ऐसा क्यों? क्या उसमें बहुत बड़े परिवर्तन की जरूरत है? ये सारे पॉइन्टस हैं, जो परेशान करने वाले हैं। 20वीं सदी अपना काम पूरा कर चुका है। अब 20वीं सदी से उम्मीद हम नहीं कर सकते कि वो नया कुछ लेकर आए। लेकिन नया जो आ रहा है। उसके सामने ये प्रश्न रखे जाने चाहिए। मेरा ख्याल है कि इस तरह के लोग आ रहे हैं। पैदा हो रहे हैं। एक युवा कवि ने और हिमाचल के रिमोट इलाके के रहने वाले कवि हैं। बड़ी दिलचस्प उनकी कविता है। जब मेरा पहला संग्रह आया तो मैंने बड़े चाव से कुछ कवियों को किताबें भेज दीं। लेकिन मेरे गांव की एक स्त्री, सामान्य स्त्री, घरेलू काम-काज करने वाली स्त्री, उसने कहा कि 'सुना है भई तुम कुछ कविता-उविता लिखते हो तो जरा मुझे भी अपनी कविता सुनाओ।' तब ये सोचने लगा कि इसके सामने मेरी कविता इतनी लाचार क्यों है? मैं इसको अपनी किताब क्यों नहीं दे सकता? बड़े विद्वान, बड़े

आलोचकों को दे रहा हूं, अपने कई मित्रों को दे रहा हूं, लेकिन ये महिला जो है.. कहती है 'तुलसीदास की कविता पढ़ी है मैंने, मीराबाई की कविता पढ़ी है मैंने, तुम्हारी कविता पढ़ना चाहूंगी।' मीराबाई को जानती है, तुलसीदास को जानती है। आज की कविता को नहीं जानती! उसको अपनी किताब देते हुए मेरे हाथ कांप रहे थे क्योंकि ये निर्णय करेगी? ये रात में सूर, तुलसी की पंक्तियां गाती रहती होगी। मीराबाई की पंक्तियां गाती रहती होगी, गुनगुनाती रहती होगी और उसके बाद जब मेरी पुस्तक पढ़ेगी तो क्या रियेक्सन होगा उसका? मैं कहना चाहता हूं कि ये जो युवा पीढ़ी के हैं, सोच रहे हैं। बातें परेशान कर रहीं हैं उसको। मुझे ये परेशानी अच्छी लगी। और इसके भीतर 21वीं सदी की कविता नए ढ़ग से पैदा होती है। नया आकार लेती है। मेरा एक छात्र है, मेरे अंदर पी-एच.डी कर चुका है। तो उसने जब अपना पहला चेप्टर तैयार करके दिया मुझे जे.एन.यू में... तो उस समय अंग्रेजी का आतंक होता था, अंग्रेजी के कवियों, लेखकों के नाम का आतंक.. तो उसने अपने चेपटर में एक बहुत प्रसिद्ध अंग्रेजी के लगभग आतंक के पर्याय एजरा पाउण्ड का नाम लिया था। एजरा पाउण्ड महान थे। लेकिन उसने.. उस लड़के को पता नहीं क्यों लगा कि एजरा कोई महिला हो। तो उसने अपने पूरे चेपटर में इस प्रकार लिखा कि एजरा ऐसा कहती है, ऐसा करती है, लाईक दिस गलत है। एजरा पाउण्ड मेल हैं ये सब जानते हैं। लेकिन मुझे यह अच्छा लगा और मैं इसे इस बात का सूचक मानता हूं कि पश्चिम का आतंक कम हो रहा है। वो जो एक बड़ा जबरदस्त आतंक कि एजरा पाउण्ड के नाम के बिना कविता पर बात नहीं कर सकते थे। एजरा पाउण्ड स्त्री है, न क्या है? इससे आज एकदम जो नया पौध है वह अनजान है। उसका अनजान होना सुखद है। पश्चिम का आतंक कम हो रहा है। मैं कहना चाहता हूं हमारी कविता उससे मुक्त होने के संघर्ष में लगी हुई है।

दो वर्ष मैंने चीन में, बिजींग में बिताया है। तो वहां के जो अध्यक्ष महोदय थे वे हमलोगों का स्वागत कर रहे थे। उन्होंने कहा कि एक प्रश्न मैं आप से पूछना चाहता हूं कि हिंदी के भारतीय लोगों से पूछना चाहता हूं क्योंकि हिंदी की भी कई भाषाएं हैं कि जब आप रवींद्रनाथ टैगोर का नाम लेते हैं तो ये कहना आवश्यक समझते हैं कि वो एक ग्लोबल आदमी थे। ग्लोबल नारे के बिना भी वो बड़े थे, बड़ा लिखा उन्होंने। वे बड़े इसलिए नहीं थे कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। ये जो हमारे ऊपर एक पश्चिम का दबाव है, आतंक है कि उसने सर्टिफिकेट दिया। ग्लोबल सर्टिफिकेट देंगी। ये मानसिकता टूटनी चाहिए। इस आतंक से पूरब को मुक्त होना चाहिए। हमारा लेखन, लोग कह भी रहे हैं कि हम उससे बाहर आ रहे हैं। 21वीं सदी में ये प्रश्न और बढेंगे। और एक खास तरह का एशियाई भावबोध काम करेगा, जो कर रहा है। हमारी रचना अब फ्रांस और लंदन को अपना नहीं मान रही है। नहीं मानेगी। बस अब हो गया। हम नहीं जानते कि फ्रांस में क्या-क्या लिखा जा रहा है। ये कुछ चीजें हैं जो घटित हो रही हैं और इस माहौल में कविता लिखी जा रही है। पूरे भारत में लिखी जा रही है। पूरे भारत का चित्र हमारे सामने इस समय नहीं है। लेकिन परिवर्तन अपना काम कर रहे हैं। और मुझे लगता

है कि हमारी सामाजिक शक्तियां जो हैं, स्त्रियों ने, दलितों ने, आदिवासियों ने हाशिए पर बैठे हुए सवाल उठाए और वो एक अलग ढ़ंग के.. उनके यहां गंभीर और लोकप्रिय, सिरियस और पापुलर के बीच उतना डिस्टेंस नहीं है, जितना पहले हुआ करता था। ये स्थितियां हैं जो धीरे-धीरे आकार ले रही हैं। और मेरा ख्याल है कि 20वीं सदी की कविता भी उस दिशा में बढ़ेगी। शायद एक ऐतिहासिक दबाव है हमारे समय का जो काम कर रहा है।

रहा विस्फोट, तो पहले विचारधारा की बात करते हैं। आइडियोलॉजी। आइडियोलॉजी ने दिशा बदल दी है। लेखक आज भी मोर और लेस, मानववादी है। ऐसा कोई लेखक, ऐसा कोई रचनाकार हुआ नहीं दुनिया में और आज तो बिल्कुल नहीं जो मानवता का पक्षधर न हो। पूरे विश्व में खास तरह की प्रतिरोध की कविता लिखी जा रही है। रेजिस्ट किया जा रहा है। और वो प्रतिरोध अपने-अपने ढ़ंग से इतिहास के अलग-अलग स्तरों पर अपने ढ़ग से काम कर रहा है। आज का मुख्य स्वर विरोध का स्वर है। इस स्वर का एक रूप नहीं होगा। कई रूप होंगे इसके। ये पूरे भारत की कविता है जो प्रतिरोध को आकार दे रही है अपने-अपने ढ़ंग से। मानव-भविष्य की रक्षा में, मनुष्य की गरिमा की रक्षा में और मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने के लिए जरूरी, जो दाव पर लगे हुए हैं उसको बचाने के लिए कविता काम कर रही है। और, एक और परिवर्तन जो शुरू हो गया है बड़ी तेजी से- ग्लोबल के विरुद्ध लोकल। ग्लोबल तो आकारहीन है। उसका कोई आकार नहीं है। जो कंक्रिट है वो तो लोकल है। आप जो देख रहे हैं। जो हमारे आस-पास है। लगातार ये जो संपर्क है अपने परिवेश से, वो भौगोलिक हो सकता है, सामाजिक हो सकता है, सांस्कृतिक हो सकता है, कई रूप उसके हो सकते हैं, लेकिन वह बढ़ रहा है और पूरी हिंदी कविता में बढ़ रहा है। ऐसा मुझे लग रहा है। कविता, अच्छी कविता, अगर हिंदी की बात करूं तो कविता वर्जित केंद्रों से नहीं आ रही है। हाशिए से आ रही है। उन क्षेत्रों से आ रही है जो सुदूर कहीं पड़े हुए हैं। वो राजस्थान का वो रिमोट इलाका हो सकता है। हिमाचल का हो सकता है। रेणु अचानक मैला हो गए, तो वो तो भई नेपाल की तराई का छोटा-सा गांव था। वहां से लेकर आए थे और उन्होंने एक नई भाषा बनाई। और फिर सारी जमीन तो.. अपनी उस जमीन से भाषा मिली। विषय-वस्तु मिली। और एक बड़ा भारी परिवर्तन घटित किया। मेरा ख्याल है कि रेणु एक लगभग इस मायने में वो पावर हाउस की तरह हैं। वो रोटी देते रहेंगे। वो बहुत कविता के करीब रह कर गद्य लिखने वाले व्यक्ति थे। एक रास्ता जरूर उन्होंने दिखाया है भाषा में भी और 'भारत माता की जय।' आज फिर बहस हो रही है। मुझे अच्छा लगा। खुशी है कि एक सबसे बड़े नेता ने कहा। मैं नाम-वाम नहीं लूंगा। जिस दल की ओर से प्रचार हो रहा है उस दल के सबसे बड़े नेता ने कहा। कुछ दिन पहले कहा है कि ये बेकार की बहस हो रही है। बिना इसु। किसके लिए? रेणु ने जब 'मैला आंचल' लिखा तो मैला आंचल शब्द कहां से लिया था? सुमित्रानंदन पंत की कविता से- 'भारत माता ग्राम बासिनी/ खेतों में फैला है दूर तक/ धूल भरा मैला सा आंचल' तो मैला सा आंचल वो भारत माता का ही है। निराला की प्रसिद्ध कविता है 'वर दे, वीणावादिनी वर दे'। 'भारती जय

विजय करे' प्रसिद्ध कविता है। जो मां के प्रति है। मैं तो वहां उस प्रदेश में खड़े होकर बात कर रहा हूं जिस प्रदेश के एक बड़े मनस्वी ने 'जय हिंद' का नारा दिया था। ये हमारे देश का नारा है। ये कुछ बातें हैं। कुछ प्रासंगिक, कुछ अप्रासंगिक।

अच्छा लगा मुझे आकर यहां।

लिप्यंतरण
डॉ. सुलोचना कुमारी दास
सुश्री रीता दास

समकालीन हिंदी कविता : नई चुनौतियाँ

—जितेन्द्र श्रीवास्तव

सन् 1990 के बाद का समय हिंदी कविता के लिए कई अर्थों में चुनौतीपूर्ण रहा है। इसी अवधि में उदारीकरण और बाजारवाद ने भारत में अपना प्रचार-प्रसार किया है। यह बावरी मस्जिद के ध्वंस और मंडल कमीशन के लागू होने का भी कालखंड है। पूंजीवाद इस कालखंड में अपने अब तक के सबसे क्रूरतम रूप में दुनिया के समक्ष उपस्थित है। सांप्रदायिकता और पूंजीवाद - इस कालखंड में दोनों अविराम मनुष्य विरोधी गतिविधियों में संलग्न हैं। हमें देखना चाहिए कि पूंजीवाद सत्ता ने कविता की प्राथमिक वस्तु, उसके प्राणतत्त्व 'कल्पना' पर अभूतपूर्व प्रहार किया है। कोई भी शोषक सत्ता अच्छी तरह जानती है कि यदि जनमानस में कल्पना की शक्ति रही तो वह एक न एक दिन शोषण की बगिया उजाड़ देगी। हिंदी कविता के संदर्भ में 'छायावाद' के समय-खंड को याद किया जा सकता है। तब इसी कल्पना के सहारे साम्राज्यवाद के विरुद्ध हमारे महाकवियों ने काव्यात्मक प्रतिरोध का महान स्वरूप तैयार किया था। अब तो महादेवी वर्मा की कविताओं का 'स्त्रीवादी पाठ' भी हो रहा है। आज के समय में 'कल्पना' पर हो रहा प्रहार बहुतों को नहीं दीख रहा है। खासकर उनको जो बेहद स्थूल चित्रण को ही कविता की ताकत मान बैठे हैं। लेकिन 'कल्पना' का इस तरह पूंजीवादी समुद्र में धीरे-धीरे खोना युवा कवियों के लिए चिंता का विषय है। कवियों की भीड़ में जो कवि सजग हैं, वे इस स्थिति का सामना कर रहे हैं। ये कवि अपने महाकवि त्रिलोचन को नहीं भूले हैं, जिन्होंने हिंदी कविता के विषय में कहा था-

हिंदी की कविता उनकी कविता है
जिनकी सांसों को आराम नहीं था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिनकी सांसों को आराम नहीं होता, वे सत्ता के साथ गलबहियाँ या कदमताल नहीं करते। वे मनुष्य और मनुष्यता के पक्ष में खड़े होते हैं। उनके कवि होने पर उनके सर्जकों को गर्व होता है। ये कवि विस्मरण और नव साम्राज्यवाद के उत्थान वाले इस कठिन समय में चेतना के पट खोलने का कार्य करते हैं। सन् 1990 के बाद के

कालखंड में एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित हुए बद्रीनारायण अपनी एक कविता में कुछ इसी तरह अपने कवि-कर्म को सार्थक ऊंचाई देते हैं –

पूरा उत्सव गूंज रहा था दलालों के शोर से
मेरी इच्छाओं को छोड़ भी दें तो
किसी को ईस्ट इंडिया कंपनी का आगमन
अब याद भी न था
हम दक्षिण में खड़े थे
वे दक्षिण से आ रहे थे
हवा से भी तीव्र वेग से भागते
काले भैंसों पर सवार
हो गए थे रक्तिम उनके भैंसों के मुख
हमारी इच्छाओं के गिरते खून से।

शब्द की सत्ता शोषण की सत्ता को इसी तरह लक्षित करके जागृति का उद्यम करती हुई एक दिन सफल होने का स्वप्न पालती और देती है। सत्ता के शब्द साहित्य में आए जनता के 'स्वप्न शब्दों' के आगे धराशायी होते रहे हैं। फासीवाद और नाजीवाद ने शब्दों के माध्यम से ही अपना दर्शनशास्त्र और नैतिकशास्त्र विकसित किया है। पूरी दुनिया में जनविरोधी कार्यों में संलग्न लोग शब्दों की ओट में ही ठिकाना बनाते-संवारते हैं लेकिन इनके बेहद संकुचित अर्थों वाले शब्द एक दिन अपना रहस्य खो देते हैं। जिसे हम 'साहित्य' कहते हैं, उसके सबसे पुरातन और सबसे नवीन अर्थों में, उसमें आने वाले शब्द इनके चमकीले लेकिन आभाहीन शब्द संसार की चुनौती देते हैं। पिछले बीस वर्षों में सांप्रदायिकता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विरुद्ध सभ्यता समीक्षा की जो कविताएं रची गई हैं, उन्हें इस संदर्भ में याद किया जा सकता है। मनुष्य विरोधी गतिविधियों में संलग्न लोग चाहे जितना चिल्लाएं उनके शब्द 'साहित्य' नहीं बन पाएंगे। अपनी प्रक्रिया और परिणति में वह शब्द साहित्य नहीं हो सकता जिसमें प्रतिरोध की क्षमता न हो। और याद रखना चाहिए कि प्रतिरोध का आशय 'मनुष्य विरोधी आकांक्षाओं का प्रतिरोध' होता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चित्तवृत्तियों के बदलाव को साहित्य के संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण माना है। पिछले बीस वर्ष की कविता को समझने के प्रयास में 'चित्त के बदलाव' को समझना बेहद आवश्यक है। हमें विस्मरण नहीं करना होगा कि इस कालखंड में वर्ग, वर्ण और धर्म भेद बहुत गहरा हुआ है। समाज की बिलकुल नई पीढ़ी के पास आकांक्षाओं का कोई नैतिकशास्त्र नहीं है। वे विभ्रम में हैं। अधिकांश की आकांक्षा का एवरेस्ट अमेरिका है जिसके पास स्वयं कोई नैतिकशास्त्र नहीं है। ऐसे समय में जबकि चित्त के बदलाव को भी ठीक-ठीक परिभाषित करना मुश्किल हो तब साहित्य का संघर्ष बड़ा हो जाता है। कोई माने या न माने लेकिन सच है कि आजादी के बाद बहुत सी मुश्किलें आईं लेकिन ऐसा 'दिग्भ्रमित समय' इससे पूर्व न आया

था। पिछले बीस वर्ष 'लिटरेरी स्ट्रगल' के भी बीस वर्ष हैं। इस अवधि के संघर्ष ने हिंदी कविता को कुछ ऐसे साधक दिए हैं, जिन्होंने उम्मीदों को भी जिलाए रखा है। ये वे लोग हैं जो कविता की मूल प्रकृति की रक्षा करते हुए 'राममय' की तरह 'गद्यमय' नहीं हुए हैं। आज हिंदी कविता का एक बड़ा संकट यह है कि कुछ लोग कविता की मूल प्रकृति को दरकिनार करते हुए, पाठकीय आकांक्षाओं को कालापानी देते हुए कुछ-कुछ लिखते रहते हैं और उसे कविता कहते हैं। ये वे लोग हैं जो कविता की आदि ताकत 'लोक' और 'लोकतत्त्व' से घृणा करते हैं। जाहिर है, इनके लिए नागर जीवन ही 'जीवन' और 'कसौटी' है। यह अकारण नहीं है कि ऐसे कवियों की कविताएं पाठकों को रत्ती भर भी संवेदित नहीं कर पातीं। ये कवि कुछ जेबी आलोचकों के भरोसे काव्य संसार में जीने का उद्यम करते रहते हैं।

आज हिंदी कविता जिस मोड़ पर है, वहां यह देखना बेहद जरूरी है कि निबंध के गद्य और कविता के गद्य में अंतर बना रहे अन्यथा अलग-अलग विधाओं के नाम की जरूरत ही क्या है? कविता में लद्धड़ किस्म का गद्य लिखना आसान है। इसलिए यह एक संक्रामक बीमारी का रूप लेता जा रहा है। हमारे समय में प्रतिभाशाली कवियों की कमी नहीं है, इसीलिए यह उम्मीद की जा सकती है कि असाध्य होती जा रही इस बीमारी से शीघ्र ही मुक्ति मिलेगी। यहां गद्य के संदर्भ में पुनः त्रिलोचन की याद आती है। उन्होंने अपनी कविताओं में पूरे-पूरे वाक्य लिखे हैं लेकिन कविता का प्रवाह नहीं रुकता है क्योंकि वह आत्मा से संवाद करती हुई कविता है। (यहाँ 'आत्मा से संवाद' का तात्पर्य किसी आध्यात्मिक संवाद से नहीं है) इस कवि और कविता में 'लोक और 'साहित्य' की लंबी परंपरा का बोध और ज्ञान है। वहाँ कोई 'नया साहित्य संप्रदाय' चलाने का अहंकार नहीं है। वह अपनी पूर्णता में मन और विवेक की कविता है। कह सकते हैं कि वह बहुस्तरीय और अर्थ के आवेग की कविता है।

हिंदी कविता के समक्ष पिछले बीस वर्षों में जो चुनौतियाँ आई हैं, उनमें एक चुनौती 'संप्रेषणीयता' की भी है। हमें यह स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि नब्बे के बाद कविता के पाठक और श्रोता कम हुए हैं। कविता-संग्रहों का प्रकाशन मुश्किल हुआ है। नए कवियों को छोड़ दें, प्रतिष्ठित कवियों के संग्रह भी नहीं छप पा रहे हैं। इसका एक कारण तो चित्त का बदलाव है लेकिन दूसरा बड़ा कारण संप्रेषणीयता है। कविता के नाम पर अर्थहीन प्रयोग और लद्धड़ गद्य कोई क्यों पढ़ना चाहेगा? आज हमारे समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न कविता के परिसर को बड़ा बनाने का है। इन दिनों लिखी जा रही अधिकांश कविताओं में तीन बातें साफ-साफ देखी जा सकती हैं –

1. उनमें लोकप्रिय होने के तत्त्वों का अभाव है।
2. प्रयोग के नाम पर अर्थहीनता का विस्तार है।
3. पढ़ने वाली कविता सुनने वाली नहीं रह गई है।

हम सभी ने नागार्जुन की जन्मशती मनाई है लेकिन उनसे कुछ भी सीखने को तैयार नहीं हैं। यह एक बड़ी विडंबना है कि बहुत से कवियों को हिंदी कविता की लंबी परंपरा का कोई

बोध नहीं है। यदि हम लंबे समय तक संप्रेषणीयता के प्रश्न को स्थगित करेंगे तो यह हिंदी कविता के भविष्य के लिए शुभ नहीं होगा। हमें समझना होगा कि 'लोकप्रिय होने' का अर्थ 'सस्ता' होना नहीं होता। इसी प्रकार वही प्रयोग अर्थवान होता है, जो अपनी परिणति में अपनी व्याप्ति को बड़ा बनाने की सामर्थ्य रखे। वही कविता कालजयी और कालजीवी होती है जिसमें पढ़ने, सुनने और गुनने की ताकत होती है। यहाँ यह कहना भी अनावश्यक न होगा कि आज पुनः छंद का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है। बहुत संभव है कि इक्कीसवीं सदी में हिंदी का बड़ा कवि वह हो जो 'डिटेल्स की महिमा' के साथ-साथ 'छंद और प्रगीतात्मकता की महिमा' को भी आत्मसात् करे।

हिंदी कविता में सन् 1990 के बाद रुचियों की कट्टरता कम हुई है। खासकर बड़े और अग्रज कवियों के संदर्भ में। अब अज्ञेय और मुक्तिबोध को एक साथ पढ़ने और सद्भाव के साथ व्याख्यायित करने वाले बढ़ रहे हैं लेकिन समकालीनों के बीच मार-काट मची हुई है। अभी अपने समकालीनों को पढ़ने, समझने और सराहने की उदारता न के बराबर है। सौंदर्यबोध और ईर्ष्या की यह जकड़बंदी हिंदी कविता के स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं है। कविता यदि "शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंधों की रक्षा और निर्वाह का साधन है" (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), तो उसमें ईर्ष्या के लिए जगह नहीं होनी चाहिए। यह समय कविता की ताकत और उसके परिसर को बढ़ाने के यत्न का है। पिछले बीस वर्षों में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों के उभार ने बहुत से नए प्रश्न खड़े किए हैं। दलित और आदिवासी साहित्य का व्यापक विस्तार हो रहा है लेकिन इस सवाल से नहीं बचा जा सकता कि जिसे मुख्य धारा का साहित्य कहा जाता है, उसमें इनकी उपस्थिति बहुत कम है। दलित और आदिवासी जीवन हमारी बहुत कम कविताओं में आया है। संभव है, ऐसा करने पर अनुभूति और सहानुभूति का प्रश्न खड़ा किया जाए। यह भी संभव है कि खारिज करने की कोशिश की जाए लेकिन इसका आशय यह नहीं कि इस कारण से उधर से मुँह फेर लिया जाए। साहित्य अनिवार्य रूप से सुविधा का क्षेत्र नहीं है।

चुनौतियाँ ढेर सारी हैं। पिछले दो दशक की हिंदी कविता पर दृष्टि डालें तो यह साफ-साफ दिखाई देता है कि 'कविता में लोकतत्त्व' तो है लेकिन 'ग्रामीण जीवन का यथार्थ' न के बराबर है। जिन कवियों ने अपने आरंभिक दौर में 'ग्रामीण जीवन के यथार्थ' को चित्रित करने वाली कविताओं से पहचान पाई थी, वे भी अब या तो वह मार्ग छोड़ चुके हैं या कृत्रिम ढंग की कविताएं लिखकर यशस्वी हो रहे हैं। यहां जब ग्रामीण यथार्थ की बात हो रही है तो इसका यह आशय नहीं है कि शहरी जीवन का यथार्थ और उसकी विडंबनाएं कविता में उल्लेखनीय ढंग से आ रही हैं। समस्या इस इलाके में भी है। यहाँ यह उल्लेख भी जरूरी है कि नगरों-महानगरों में तेजी से समाप्त हो रही जमीन अभी ठीक से काव्य-चिंता में शामिल नहीं हो पाई है। यह 'विकास और विनाश' का अद्भुत उदाहरण है। ऐसे में कविता को किसी सरल उपाय का विकल्प न चुनकर इस समस्या की जटिल संरचना से टकराना होगा। मैं मूल्य-निर्णय की मुद्रा

मैं नहीं कह सकता कि इस टकराहट में कविता का रास्ता क्या होना चाहिए, लेकिन 'मनुष्यता की रक्षा' की आदि प्रतिज्ञा कवि के साथ अवश्य होनी चाहिए।

इधर कुछ वर्षों में 'ब्लॉग' और 'फेसबुक' जैसे नए माध्यमों ने छपी हुई पत्रिकाओं और पुस्तकों के समानांतर सर्जनात्मकता को अभिव्यक्त करने वाले सर्वथा नए आकाशों का सृजन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'मुक्त' के समूचे अर्थ-वैभव के साथ रचा गया 'मुक्त स्पेस' है लेकिन ऐसा है नहीं। 'ब्लॉग' और 'फेसबुक' पर आप अपनी रचनाएं प्रकाशित कर सकते हैं और इसके लिए किसी प्रकार का कोई संपादन आवश्यक नहीं है। लोकप्रिय शब्दावली में कहें तो "आप अपने मन के राजा या रानी हैं।" (हालांकि 'राजा' और 'रानी' जैसे पद लोकतांत्रिक समाज के पद नहीं हैं।) ऐसा इसलिए क्योंकि इसके लिए किसी प्रकार की प्रतिबद्धता आवश्यकता नहीं है। पिछले वर्षों में हम इस 'ई-स्पेस' पर भाषिक गरिमा की गिरावट के कुछ उदाहरण देख चुके हैं। पिछले लगभग सवा सौ वर्षों में प्रिंट माध्यमों के जरिए हिंदी कविता ने जिस प्रकार अपना मनुष्यधर्मी चरित्र निर्मित किया है और लगातार 'रूप' के स्तर पर भी परिपक्वता अर्जित की है, वह आगामी समय में भी ब्लॉग और फेसबुक के जरिए संभव होता नहीं लगता। हां, आपको यहां पाठक जरूर मिल सकते हैं। यहां यह कहना भी जरूरी है कि 'ई-स्पेस' पर सुनियोजित ढंग से निकाली जा रही कुछ पत्रिकाएं भी हैं, जो अच्छा कार्य कर रही हैं। वैसे कुल मिलाकर 'ई-स्पेस' का बेहतर साहित्यिक उपयोग एक चुनौती ही है। खासकर एक ऐसे देश में जहाँ पत्रिकाएं तो किसी तरह दूर-दराज के इलाके में पहुंच भी जाती हैं लेकिन उन इलाकों और निर्धन जनता तक बिजली, इंटरनेट और कंप्यूटर का पहुंचना अभी दूर की कौड़ी है।

इधर के वर्षों में कविता को खेल समझने का भी प्रचलन बढ़ा है। यह महज कविता के लिए नहीं, संपूर्ण साहित्य के लिए चिंता का विषय है। साहित्य खेल नहीं, जीवद्रव्य होता है। वह मनुष्य को उबारता है। यहाँ हारने-जीतने का कौशल महत्त्वपूर्ण नहीं होता, मनुष्य संस्कृति की चिंताएं महत्त्वपूर्ण होती हैं। आज के जटिल समय में खेल तो चिंता का विषय हो सकता है लेकिन मनुष्यता की चिंताएँ खेल नहीं हो सकती हैं। उन्नीस सौ नब्बे के तुरंत बाद सोवियत संघ के पतन और भूमंडलीकरण-उदारीकरण के वेश में मुक्त पूंजी के वहशी नृत्य ने बहुत सारी चीजों को धुंधला कर दिया। साहित्यिकों के बीच का एक बड़ा वर्ग भी जाने-अनजाने दिग्भ्रमित हुआ। साहित्य को खेल समझने और खेल में बदलने की प्रवृत्ति भी 'इसी दिग्भ्रम या अतिरिक्त चालाकी' की कोख से पैदा हुई है। यहाँ अलग से कहने की जरूरत नहीं कि इस प्रवृत्ति से आर-पार का संघर्ष बेहद जरूरी है। यहाँ यह याद करना भी आवश्यक है कि पिछले वर्षों में हिंदी कविता में स्वयं पर संदेह करने और अपने को दुरुस्त करने की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ है। अधिकांश की स्थिति यह है कि वे स्वयं को सर्वोत्तम और दूसरों को निकृष्टतम मानने-मनवाने की होड़ में लगे हैं। अपना सब कुछ अच्छा और दूसरों का दो कौड़ी का भी नहीं। यही वजह है कि आज हम सब काव्यात्मक विविधता के विरुद्ध खड़े हैं। अधिकांश मठाधीश होने के

आकांक्षी चाहते हैं कि पूरा काव्य परिदृश्य वैसा ही हो जाए जैसा उनका रचना संसार है। ऐसे लोग अपने आस्वाद की संकीर्णता से उसी तरह बँधे हैं, जैसे कोई बैल मजबूत पगहे से धरती में खूब धँसे किसी खूँटे से बँधा होता है। ऐसे लोग साहित्य में लोकतंत्र की बातें करते हैं, लेकिन हर पल अलोकतांत्रिक आचरण करते हैं। यह किसी भी कोण से शुभ लक्षण नहीं है।

पिछले बीस वर्ष की हिंदी कविता का एक ऋणात्मक पक्ष यह भी है कि इसके पास अपना कोई मुकम्मल आलोचक नहीं है। अग्रज पीढ़ी के आलोचक ही कभी-कभार इधर भी ताक लेते हैं। इस कालखंड में सैद्धांतिक पक्ष पर तो काम नहीं ही हुआ, उत्कृष्ट अर्थ-मीमांसा का भी कोई उदाहरण याद नहीं आता। यहाँ कहने को मन हो रहा है कि इस कालखंड की कविता को समझने-समझाने के लिए ऐसे आलोचकों की सख्त जरूरत है जो सर्जनात्मक कल्पना से रहित न हों।

यहाँ हिंदी कविता की चुनौतियों पर विचार करते हुए ऋणात्मक पक्षों पर इतने विस्तार से विचार करने की एक ही वजह है कि आज हमारे बीच एक-दो नहीं, पचासों प्रतिभाशाली कवि-कवयित्रियाँ रचनारत हैं। इनमें इतनी प्रतिभा है कि ये ऋणात्मक को धनात्मक बना सकते हैं। वैसे निजी तौर पर मेरा मानना है कि कविता कभी समाप्त नहीं होगी। कविता का अंतिम दिन और क्षण वही होगा, जो सृष्टि का अंतिम दिन और क्षण होगा। जब तक मनुष्य और उसका हृदय है, तब तक कविता अजर-अमर है।

समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ

–मनीषा झा

समकालीन कविता की चुनौतियों और संभावनाओं पर विचार-विमर्श आवश्यक है। इस विषय में प्रवेश करना समकालीन कविता के वर्तमान और भविष्य को खोलना है। चुनौतियाँ जहाँ वर्तमान पर विचार करने को आमंत्रित करती हैं, तो संभावनाएं भविष्य पर विचार करने को। 'आलोचना' के 2001 अंक में अरविंद त्रिपाठी का कहना था कि आज कविता पर बहस भविष्य पर नहीं उसके अतीत और वर्तमान पर होना चाहिए।

बहरहाल, इस विषय की गहराई में जाने के लिए जड़ की ओर देखा जाय। समकालीन कविता किसे कहा जाय? कुछ लोग इसे जनोन्मुखी धारा तक ही मानते हैं। सवाल है कि जनोन्मुख चेतना से इधर जो कविता इस काल में लिखी गई, उसे कहाँ डाला जाय? इसलिए समकालीन कविता अपनी संपूर्णता में समय-सापेक्ष अधिक लगती है। इसमें जनोन्मुख विचारधारा से लेकर आधुनिकतावादी विचारधारा की कविताएँ आती हैं। अकविता आंदोलन के बाद की कविताओं को समकालीन कविता मानना उचित है। कोई सीमा-रेखा खींचनी हो, तो 1967-68 को प्रारंभिक समय माना जा सकता है, क्योंकि तब तक अकविता आंदोलन समाप्त हो गया था। इसकी-अंतिम सीमा क्या हो? कभी-कभी आज की कविता को युवा कविता कहकर इसे समकालीन कविता से इतर मानने की कवायद की जाती है। पर युवा कविता पद भ्रामक है। कविता स्वभावतः युवा होती है। युवा कहानी की तर्ज पर युवा कविता को नहीं हाँका जा सकता।

समकालीन कविता के अध्ययन को लेकर समय-सीमा एक बड़ी समस्या है। इस समस्या के निराकरण में, समकालीन कविता का अध्ययन दो चरणों में बाँटकर करने में सहूलियत है। पहला चरण - 1967-68 से लेकर 1990 तक, दूसरा चरण - 1990 से लेकर अब तक। 1990 विभाजन-सीमा इसलिए कि इसके बाद भूमंडलीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण की नीतियों में भारत जब शामिल हो जाता है, तो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में व्यवस्थागत परिवर्तन की प्रक्रिया भी शुरू होकर तेज होने लगती है। अब कविता के समक्ष

चुनौतियाँ भी भिन्न हो जाती हैं।

समकालीन कविता एक बड़े कालखंड की कविता है। ऐसे में, समकालीन कविता के अध्ययन का आधार क्या हो? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किन बिंदुओं से इसका समग्र अध्ययन किया जाय? अब तक समकालीन कविता पर जो टिप्पणी या आलोचना उपलब्ध है, उनमें इस काव्य-धारा को दशकों में बाँटकर अध्ययन की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे, सातवें दशक की कविता, आठवें दशक की कविता, नौवें दशक की कविता, नई सदी या इक्कीसवीं सदी की कविता- इसे आज की कविता या इधर की कविता भी कहा गया। ऐसे में, समकालीन कविता का पूर्ण रूप सामने नहीं आता। समकालीन कविता के समग्र मूल्यांकन की समस्या और आवश्यकता अब भी बनी ही हुई है।

समकालीन कविता के समक्ष चुनौतियाँ कई हैं – अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर। बात यदि विषयगत चुनौतियों की की जाए, तो इसके पहले चरण में जो प्रमुख चुनौतियाँ थीं यानी पूंजीवाद, सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक विषमता, बेरोजगारी, अशिक्षा, हिंसा, सांप्रदायिकता आदि। अब दूसरे चरण में आकर उपभोक्तावाद, बाजारवाद, पर्यावरण संकट, स्त्री-दलित आदिवासी तथा पिछड़ी जातियों की मुक्ति का प्रश्न, भ्रष्टाचार, विस्थापन आदि चुनौतियाँ आ जुड़ीं। स्मृतियों का विलोप, परंपरा का तिरस्कार आदि अलग से सवाल खड़ा कर रहे हैं। समकालीन कविता परिवर्तन की प्रक्रिया को बहुत बारीकी से पकड़ती है। इतनी सारी चुनौतियों ने समकालीन कविता को वैविध्य भी दिए हैं।

समकालीन कविता के पहले चरण और दूसरे चरण के स्वभाव को समझने में कवियों-आलोचकों की ये टिप्पणियाँ मददगार हो सकती हैं। आज की कविता पर टिप्पणी करते हुए अरुण कमल कहते हैं – "जीवन के जितने सारे क्षेत्र अनुभव और भंगिमाएँ अभी आ रही हैं, उतनी पहले नहीं थीं। चीखने से लेकर लगभग स्वगत तक - पूरा विस्तार मिलता है। जहाँ कुछ भी नहीं था वहाँ भी आज का कवि कविता ढूँढ़ लेता है।" यानी आज कविता का क्षेत्र-विस्तार हो रहा है। कविता को विविध जीवन-स्थितियाँ, जीवनानुभव मिल रहे हैं, जिनसे निश्चय ही कविता का दायरा बढ़ा है. आज समकालीन कविता की एक प्रमुख विशेषता वैविध्य है, इसे परमानंद श्रीवास्तव भी रेखांकित करते हैं। अपने 'कठिन समय में कविता' शीर्षक लेख में नीलेश रघुवंशी, पवन करण, कुमार अंबुज, नीलाभ, अनामिका आदि कवियों के हवाले से कहते हैं – 'इधर की कविता का वैविध्य चकित करता है।' राजेश जोशी का कहना है – 'जीवन का विशद चित्रण ही समकालीन कविता का खास मकसद रहा है।' अरविंद त्रिपाठी 'कविता का आज' लेख में लिखते हैं – "समकालीन कविता में एकरूपता की जगह विविधता का संसार रचा गया है। यह विविधता कविता की दुनिया में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया का बद्धमूल होना है, जिससे कविता में संभावना के अनेक दरवाजे खुलते दिखाई दे रहे हैं।" तो क्या समकालीन कविता का वैविध्य या लोकतंत्रीकरण के प्रति प्रतिबद्धता ही इसकी संभावना है?

विषय-वैविध्य को समकालीन कविता का मूल रूप माना गया है। समकालीन कविता के पहले चरण में पूँजीवाद और सत्ता के विरुद्ध विचारधारा का स्वर तेज है तथा सामान्य जन के प्रति पक्षधरता का स्वर स्पष्ट है, मानो पूंजीवाद और सत्ता-वर्चस्व ही सबसे बड़ी चुनौती हो। पर दूसरे चरण की कविताओं में विचारधारा के स्वर का लोप भी हुआ, जो पहले के कवियों के लिए अखरनेवाली बात थी। इसलिए इस कविता पर अराजनीतिक होने का आरोप लगा। अरुण कमल लिखते हैं – "नवें दशक की कविता को पढ़ते हुए जो बात सबसे पहले ध्यान खींचती है वह है उसका अ-राजनीतिक स्वरूप। .... इधर की कविताएं अधिकांशतः छोटे-छोटे विषयों और आशयों की कविताएँ हैं। स्थिर, शांत और सौम्य। घर-परिवार-गृहस्थी-प्रकृति-लोकजीवन के सुकोमल दृश्य और बिंब जो दृश्य-पटल पर जरा-सा ठहर कर विसर्जित हो जाते हैं इधर की कविता में लगातार बढ़ते गए हैं. कह सकते हैं कि कविता ज्यादा घरेलू और पालतू हो गई है।" बात यह हुई कि समकालीन कविता के पहले चरण की कविताओं की अपेक्षा दूसरे चरण की कविताएं अ-राजनीतिक हैं। इसके पीछे समय का दबाव हो सकता है। अब कविता में समय-सजगता स्पष्टतः दिखती है। कहना चाहिए कि पहले चरण की कविता में जो स्थान राजनीतिक विचारों का था, अब वह स्थान समय की पहचान ने ले लिया। कविता का घरेलू और पालतू होना अब अखरनेवाली बात हो गई।

वस्तुतः पूंजी, बाजार, स्वार्थ, हिंसा तथा अमानवीकरण के विरुद्ध आवाज या प्रतिरोध समकालीन कविता का वास्तविक स्वरूप हैं। क्षेत्रीयतावाद, आतंकवाद, व्यक्तिवाद, भेद-भाव की बढ़ती खाई, सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, पर्यावरण प्रदूषण आदि विविध चुनौतियों का सामना करने के कारण समकालीन कविता का दायरा बढ़ा है। समकालीन कविता के सामने आज सबसे बड़ी चुनौती अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की उच्छृंखलता, उपभोक्तावाद, पर्यावरण संकट, मनुष्यता पर आक्रमण आदि का सामना है। यद्यपि अरविंद त्रिपाठी समकालीन कविता के सामने सबसे बड़ी चुनौती भद्र मध्यवर्गीय संस्कारों से मुक्त होने को मानते हैं। ऐसा वस्तुतः समकालीन कविता में लोक-चेतना के अभाव को लक्षित करने के कारण दिखाई पड़ता है।

समकालीन कविता में संभावना है प्रतिरोध। कविता में वर्चस्व के प्रति प्रतिरोध, बाजारवाद, अमानवीयता, हिंसा, सांप्रदायिकता के प्रति प्रतिरोध दर्ज है। संपूर्ण समकालीन कविता में प्रतिरोध का स्वर प्रबल है। यही ताकत उसे संभावनाशील भी बनाती है। वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की कविता में दाने मंडी जाने से इनकार कर देते हैं -

"नहीं, हम मंडी नहीं जाएंगे
खलिहान से उठते हुए
कहते हैं दाने"

दाना से सबसे बड़ा सरोकार सामान्य जन का होता है, जो बाजार जाने के प्रति प्रतिरोध करता है। यह वास्तविकता है कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए जन महत्वहीन है। जहाँ वस्तु और पूंजी ही सब कुछ हो, वहाँ मनुष्य गरिमाहीन हो जाता है। कवि का निरीक्षण है –

"बाजार में न धूल थी
न जनता
दोनों को साफ कर दिया गया था।"

यह है अंतर्राष्ट्रीय बाजार। यहाँ सब कुछ चकमक है, एयर कंडीशन्ड है। कल का बाजार और आज का बाजार में अंतर है। आज का बाजार भूमंडल की यात्रा में है। इसका चरित्र भिन्न है। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के आ जाने से इस देश में बाजार का स्वरूप बढ़ा है और बदला है, तो इसे भी कविता में रेखांकित किया गया है। इस बाजार के कारण मनुष्य और समाज का स्वरूप बदला है, तो यह भी कविता में दर्ज हुआ है। राजेश जोशी लिखते हैं -

"यही है हमारे समय का एक सबसे पूरा बिंब
और एक दिलचस्प प्रहसन भी
कि जो जगह भरी होती थी कभी खूबसूरत शब्दों से
वहाँ अब चमकदार जूते भरे हैं
और उनमें न किसी यात्रा की धूल है
न किसी पांव के पसीने की गंध।"

बाजार के प्रति प्रतिरोध का स्वर समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि से लेकर युवा कवि तक में देखा जा सकता है। संजय कुंदन, निर्मला पुतुल, हेमंत कुकरेती की कविता में यह स्वर प्रबल है।

उपभोक्तावाद का चलन बाजारवाद से आया। इसकी प्रवृत्ति है कि यह सजीव-निर्जीव हर वस्तु और प्राणी को मात्र एक वस्तु के रूप में देखता है। इस विचार में पूँजी और पैसा ही सब कुछ है। भौतिक सुख-साधन इकट्ठा करने और उसे भोगने में ही जीवन की सफलता है। मनुष्य उपभोग करनेवाला पुतला है। पूँजी और बाजार की नीतियों के साथ चलने में ही जीवन की सफलता समझी जाती है. नया समय सबको बदल रहा है, जीवन का पैमाना और कसौटी बदल रहा है। संजय कुंदन ने 'चुप्पी का शोर' में दर्ज किया है –

"वातानुकूलित केबिन में बैठा है
अपने समय का एक तेज तर्रार वक्ता
उत्पाद बेचने की कला पर
लगातार विचार करता हुआ।"

इस संदर्भ में केदारनाथ सिंह की ये पंक्तियाँ याद आना स्वाभाविक है – "जाना था बाजार / मोमबत्ती की रोशनी में / मैं लिखता रहा कविता / क्योंकि सारे हिंदुस्तान में बिजली गुल थी।" बाजार की नीतियों में जो शामिल हैं, उन्हें लोडशेडिंग का अनुभव नहीं होता। एयर कंडीशन्ड कमरे में बैठकर वे पूंजी का कारोबार करते हैं, पर कवि का कारोबार शब्द से होता है, जो अंधेरे में भी चमक-चमक उठते हैं। समकालीन कवि कठिन समय, संवेदनहीन समय,

हिंसक समय, जो मूलतः पूंजीवाद और उपभोक्तावाद की देन है, को रेखांकित करते हुए प्रतिरोध करते हैं। नीलेश रघुवंशी 'पागल समय' कविता में लिखती हैं-"कितना पागल समय है ये / घूम रहे हैं जिसमें सब बौराए-बौराए।"

विश्व-बाजार के आतंक ने सहज-स्वाभाविक-सामान्य को हाशिए पर ठेल दिया है। समकालीन कवि उसे चुन-चुनकर बाहर लाता है। इस तरह समकालीन कविता के सामने बाजार चुनौती है और चुनौती को चुन-चुनकर पहचानना और सामने लाना संभावना।

समकालीन कविता में प्रतिरोध के बिंदु और भी हैं। सांप्रदायिक कट्टरता, रक्तपात, हिंसा, आतंक, बर्बरता की विभीषिका चित्रित करते हुए उसके प्रति प्रतिरोध अख्तियार किया गया है। इस दिशा में राजेश जोशी, कात्यायनी, ज्ञानेंद्रपति, लीलाधर जगूड़ी आदि कवियों की कविताएं उल्लेखनीय हैं। सांप्रदायिकता की स्थितियां चित्रित करते हुए उसके स्थान पर मानवीय श्रम की स्थापना ज्ञानेंद्रपति इन पंक्तियों में करते हैं –

"हम मेहनतकसों का तो एक ही मजहब है -
काम और क्या?
फजूल की बातें हैं बाकी सब।"

वस्तुतः समस्त भेद-भाव और मनुष्यता को बाँटनेवाली स्थितियों की पहचान कर उसके प्रति प्रतिरोध मिलता है समकालीन कविता में। मानव और प्रकृति के अस्तित्व की रक्षा का प्रयास दिखता है इस कविता में। पर्यावरण-संकट को अनुभव कर प्रकृति की मुक्ति का रास्ता मिलता है। जातिगत, लिंगगत तथा वर्गगत वैषम्य बढ़ानेवाले तत्त्वों के प्रति प्रतिरोध का स्वर मिलता है इस कविता में। इस प्रकार संपूर्ण समकालीन कविता में प्रतिरोध तथा संघर्ष का सौंदर्य प्रबल है।

समकालीन साहित्य और समस्याएं

–जीतेन्द्र गुप्ता

साहित्य के संदर्भ में समकालीनता एक दिग्भ्रमित करने वाला पदबंध है, क्योंकि 'समकालीन' मूलतः वर्तमान समय को ही संबोधित-संदर्भित करता है। लेकिन इसके विपरीत साहित्य के गंभीर अध्येता इस बात से बखूबी परिचित हैं कि साहित्यिक संदर्भ में समकालीनता कई बार परंपरा साम्य, कई बार विचारधारात्मक साम्य और कई बार नवोन्मेषगत साम्य को भी व्यक्त करता है, जिसका मुश्किल से ही कोई रिश्ता 'वर्तमान समय' के साथ जुड़ता है। हॉलाकि पिछले दो-तीन दशकों से साहित्य संबंधी विचार-विमर्श और चिंतन में 'परंपरा' शब्द पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है, और कई बार तो इसे पुरातनता से भी संदर्भित कर लिया जाता है! इसी समय, नए विमर्शों के तहत लिखे जाने वाले साहित्य ने इस बात की भी गुंजाइश पैदा कर दी है कि परंपरा का यदि मूल्यांकन न भी हो तो कोई परेशानी या चिंता की बात नहीं, क्योंकि इन नए विमर्शों के सामने आने के साथ इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि ये बिल्कुल 'नई चेतना' है।

जाहिर तौर पर इस समय तथाकथित समकालीनता का मिथक बहुत हद तक 90 की विभाजक रेखा पर निर्भर है। इसमें यह मान्यता व्यक्त की जाती है कि सोवियत विघटन और तीसरी दुनिया में वैश्वीकरण के प्रसार ने संदर्भित समाजों को परंपरागत रूढिवादिता से मुक्त किया है, और यह रूढिवादिता मार्क्सवाद ही मानी जाती है! इसके लिए विभिन्न चिंतकों के पास तर्क भी विशिष्ट किस्म के हैं- पहली बात कि मार्क्सवाद एक राजनीतिक दर्शन है और साहित्य में इस विचार पद्धति का प्रयोग साहित्य को 'मिशन' में तब्दील कर देता है, और 'साहित्यिकता' राजनीति के धुरे की भेंट चढ जाती है। और दूसरी बात कि मार्क्सवाद 'वर्ग' जैसी अवधारणा पर इस तरह से यक़ीन करता है कि समाज में मौजूद दूसरे वंचित समूह (जैसे स्त्री व दलित) पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसी कारण वर्तमान समय में परंपरा से मुक्ति का एक अन्य नाम 'मार्क्सवाद से मुक्ति' भी माना जाता है।

ऐसी स्थिति में दो तरह के प्रश्न सामने आते हैं। पहला प्रश्न यह कि क्या मार्क्सवाद

अप्रासंगिक हो गया है, और इसी से जुड़ा एक अनुपूरक प्रश्न कि क्या मार्क्सवाद विभिन्न वंचित समूह के स्वरों को जगह नहीं देता है? इसके साथ दूसरा प्रश्न यह कि क्या 90 की विभाजक रेखा ऐतिहासिक रूप से विमर्शवादी साहित्य के भौतिक आधारों को पुष्ट करती है, यदि हाँ, तो कैसे? और नहीं, तो इस विमर्शात्मक साहित्य का कारण क्या है (भौतिक आधार क्या हैं)?

पहला प्रश्न मार्क्सवाद की प्रासंगिकता का है। यहां यह सवाल राजनीतिक परिक्षेत्र के बजाए साहित्यिक संदर्भो से है। सबसे पहले इस तथ्य को समझना या रेखांकित करना ज़रूरी है कि साहित्य के संदर्भ में मार्क्सवाद प्रस्तावित क्या करता है। मोटे तौर पर मार्क्सवाद साहित्य के संदर्भ में मांग यह करता है कि साहित्य को आभिजात्यवादिता से मुक्त किया जाए और सर्वहारा वर्ग की स्थिति, उनकी चेतना और उसके सरोकारों को साहित्य में व्यक्त किया जाए, और यह इसलिए किया जाए क्योंकि सर्वहारा वर्ग ही क्रांति या नई चेतना व प्रतिरोध का प्रतिनिधि है। साथ ही यह कि साहित्य की भूमिका यथास्थितिवादी न होकर जनता के संघर्षों को अभिव्यक्त करने वाली हो और यह जनता को पूंजीवाद से संघर्ष करने के लिए प्रेरित करे। वर्तमान समय में हमारे समाजों की जो स्थिति है, शायद ही उससे कोई खुश हो। व्यापक पैमाने पर फैली ग़रीबी, बेरोजगारी, अमानवीयता, विस्थापन, असुरक्षा, युद्ध जैसी ढेरों व्यवस्थाजनित समस्याएं व त्रासदियों का मानवीय समुदाय सामना कर रहा है। ऐसी स्थिति में कहीं से नहीं प्रतीत होता कि एक अच्छी, मानवीय और न्याय आधारित व्यवस्था का स्वप्न अपनी मूल्यवत्ता खो रहा है। इसके बजाए आज यह स्वप्न और अधिक गहराई के साथ निरंतर अपनी मूल्यवत्ता को अभिव्यक्त करता जा रहा है। इस स्वप्न को देखने और साकार करने की सुविधा केवल मार्क्सवादी दर्शन प्रदान करता है, इसलिए मार्क्सवाद की अप्रासंगिकता किसी भी तरह से नहीं प्रमाणित होती है।

आश्चर्यजनक रूप से 90 के दशक में 'मार्क्सवाद की अप्रासंगिकता' की घोषणा करने के साथ विभिन्न 'उत्तर' चिंतकों व रचनाकारों को 'उधार की भाषा' और 'कृत्रिम भावबोध' का प्रयोग करने की जैसे अनुज्ञा प्राप्त हो गई, और इसका कारण भी स्पष्ट है। पहली बात यह कि 'उत्तर' कहने के साथ इस कृत्रिम शब्दावली के प्रयोग पर रहा 'वैचारिक प्रतिबंध' (जिसे मैं अपनी भाषा में 'जनप्रतिबद्धता' कहूँगा) नहीं रहा, और दूसरी बात कि इस 'उधार की भाषा' और 'कृत्रिम भावबोध' के प्रयोग का कारण यह रहा कि यह बुर्जुआ प्रचार तंत्र के अनुकूल थी। इस प्रवृत्ति के लक्षणों की पहचान बहुत आसान है। यह 'उधार की भाषा' और 'कृत्रिम भावबोध' कभी भी किसी तर्क पद्धति का अनुकरण नहीं करती है। हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा में सिद्धांत और अनुभव की द्वंद्वात्मकता पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया है (यहां तक कि इसे एक मूल्य के तौर पर भी मान्यता प्राप्त हुई)। इसका शानदार उदाहरण 'गोदान' है। 'महाजनी सभ्यता' की सैद्धांतिकी के बावजूद प्रेमचंद ने 'गोदान' में अनुभव की सत्यता के आधार पर सिद्धांत को समृद्ध किया है, वरना होरी मात्र सर्वहारा वर्ग का प्रतीक रहता, और होरी के व्यक्तित्व में मौजूद द्वंद्वात्मकता से परिचय ही न हो पाता।

लेकिन जब मात्र सिद्धांत की एकपक्षता स्वीकारी जाती है, और अनुभव से उसे समृद्ध करने की रचनात्मकता का लोप हो जाता है, वहाँ साहित्य के सबसे खतरनाक निहितार्थ सामने आते हैं, और रचनाकार (व चिंतक भी) की 'जनपक्षधरता' की वास्तविकता प्रत्यक्ष होती है। इस मामले में उदाहरण से अपनी बात ज्यादा साफ तरीके से सामने रखी जा सकती है।

भुखमरी का कुछ नहीं कर सकता
एक जैसी नहीं है सरकार और मेरी विवशता
प्रधानमंत्री का भाषण तो नहीं है कविता
कि कोई भी झट से तर्जुमा करके फेंक दे
रामपाल, जनकसिंह और प्यारेलाल चपरासी को
किस तरह पलटूँगा किसी परायी भाषा में
अपढ माँ जिसे निश्वत कहती थी
उसे रिश्वत जैसा ही कुछ लिख पाऊँगा ('तर्जुमा', हरिओम राजोरिया, नया ज्ञानोदय, जुलाई, 2012)

पहली नज़र में यह कविता जनपक्षधर होने की कोशिश करती दिखती है। लेकिन बहुत गहरे अर्थों में यह कविता न केवल जनविमुखता का भाव व्यक्त करती है, बल्कि इससे भी ज्यादा शोषण, उत्पीडन और दुःख को एक ऐसी स्थिति प्रदान करती है, जो लौकिक से अलौकिक में तब्दील हो जाती है। और दुःख अलौकिक है, तो फिर उसका प्रतिरोध कैसे होगा? इस उद्धृत कविता में जिस युक्ति को अपनाया गया है, वह वही युक्ति है, जिसे अज्ञेय ने अपनाया था।

बल्कि केवल यही-
ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच (हरी घास पर क्षण भर, 'कलगी बाजरे की'- अज्ञेय)

मनुष्य की संवेदना, भाव संपदा को व्यक्त करने वाली परंपरा से प्राप्त सबसे क़ीमती उपलब्धि 'भाषा' यदि अक्षम हो जाए, तो निश्चित रूप से किसी विकल्प की तलाश संभव ही नहीं है, यहां तक कि किसी स्थिति का वर्णन तक करना संभव नहीं है। भाषा धोखा दे रही है, इसका तात्पर्य है कि जो कुछ लिखा गया है, वह सब झूठ और फरेब है। यह आम जनता की स्थिति नहीं है, वह भले ही 'रिश्वत' को 'निश्वत' कहे, लेकिन उस शब्द के साथ जुड़ी हुई पीड़ा, दुःख और असंतोष का स्तर समान ही है (इस प्रवृत्ति के विस्तार का एक अन्य बढ़िया उदाहरण रॉक स्टार (2011) नामक बंबईया सिनेमा का गाना 'जब भी मैं कुछ कहना चाहूँ/ बरबाद करे, अल्फ़ाज मेरे' है, जो इस बात की ग़वाही देता है कि किस तरह से पूर्वोक्त प्रवृत्ति को प्रचलित-प्रसारित पूंजीवादी कला माध्यमों द्वारा आम जनता के मस्तिष्क में भरने का प्रयास किया जा रहा है।)। यहां इन उदाहरणों को सामने रखने का आशय यह है कि इस बात को

रेखांकित किया जा सके कि किस तरह समकालीन हिन्दी कविता का एक पक्ष चमकीली किस्म की, लेकिन वैचारिक रूप से दिवालिएपन की शिकार और जन-विरोधी पुरानी विचार श्रृंखलाओं का अनुयायी है।

यह स्थिति इसी कारण पनपती है कि लेखक या कवि का जनता के साथ जो आवयविक संबंध होना चाहिए, वह संबंध समाप्त हो गया है, और कविता उन्हीं रीतिवादी ढर्रे पर लिखी जा रही है, जिससे नव-जागरण के पुरोधाओं ने व्यापक संघर्ष करके हमारे लिए नई रोशनी खोजी थी।

जब श्लथ पड़ा होता है
मेरा हाथ
तेरे नन्हे स्तन पर
तब बसता है घर (साकार समय में, पृ. 26, प्रभात त्रिपाठी)
या
शायद कोई मंत्र
बुदबुदा रहे थे उसके उरोज
सद्यःस्नाता वह झुकी थी छज्जे पर (वही, पृ. 33)

प्रेम और यौनिकता की स्वतंत्रता का आभास देने वाली ये पंक्तियां एक खास तरीके से रीतिवादी प्रवृत्तियों का अनुकरण किए हुए हैं। रीतिवाद में जिस तरीके से स्त्री और उसकी यौनिकता का वस्तुकरण किया गया था, बिल्कुल उसी तरह यहां भी उसी की पुनरावृत्ति देखी जा सकती है। यहां इस तरह के भावबोध को अपनाया गया है कि जैसे स्त्री केवल पुरुष की कामातुरता को संतुष्ट करने के लिए कोई उपभोक्ता वस्तु हो, जिसका ग्राहक इस उपभोक्ता वस्तु का भिन्न-भिन्न रूपों में उपभोग करने का लालसी हो:

वह रोज की तरह आयी और लिपट गयी
मेरी दीवानगी के सीने पर अपने भारी स्तनों का बोझ डालती
फिर बहुत महीन आवाज़ में अपनी निजी भडास निकालती
बोलने लगी
कि अपने विवाहित प्रेमी से पूर्णकाम मिलन की चाह में
वह सुलगती रहती है दिन-रात (वही, पृ. 66)

और इससे भी पीड़ादायक स्थिति यह है कि एक वरिष्ठ कवि-आलोचक ने इन कविताओं के लेखक के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया है, 'ऐन इस समय वे जिस तरह से प्रेम का हिन्दी कविता में पुनर्वास कर रहे हैं वैसा कोई और नहीं कर रहा है- शायद उन जैसा कोई और है भी नहीं। इस उम्र में ऐसी प्रेमातुरता ही उन्हें अपने ढंग का अनूठा कवि बना रही है' (फ्लैप, साकार समय में, अशोक बाजपेयी)।

इन स्थितियों के विपरीत सुब्रमण्यम भारती (1882-1821) की एक कविता देखें,

नारी मुक्ति के नये क़ानून
की घोषणा की है मैंने
सुनों! सोचो! इसकी सच्चाई को
सभी जीव ईश्वरांश तो, फिर
सहधर्मिणी ईश्वरांश ही हुई?
वैसे तो पढते हो कहानियां कल्पना के उड़ान की
करुणा बरसाते अघाते नहीं
नारी को स्वतंत्रता से वंचित करोगे, तो
निरर्थक होगा जीवन इस पृथ्वी पर (घोषणा)

लगभग एक शताब्दी पहले लिखी गई यह कविता आज समकालीन कविताओं की तुलना में कहीं ज्यादा क्रांतिकारी और मानवीय दृष्टि की पोषक है। इसी कारण इस लेख के आरंभ में 'समकालीन' शब्द के साथ जुड़े विभ्रम की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास किया गया है। असल में साहित्य में परंपरा के पदों में विचार हो सकता है, और परंपरा ही समकालीनता का मूल्य निर्धारण कर सकती है। पूर्वोक्त जिन कविताओं को उद्धृत किया गया है, उन कविताओं की भारती की कविताओं से तुलना करने पर आसानी से देख सकते हैं कि भारती हमारे लिए संवेदना, परंपरा, क्रांतिकारिता और विद्रोह के मूल्यों के आधार पर कितने अधिक समकालीन हैं, वहीं समयगत दूरी न होने के बावजूद किस तरह से पूर्वोक्त कविताएँ प्रतिक्रियावादी स्वरों को समाहित किए हुए हैं। जाहिर सी बात है कि वर्तमान में विचारधारामुक्ति के मुहावरे के साथ ही समकालीन कविताओं में इस तरह के प्रतिक्रियावादी स्वर मुखर हो रहे हैं।

पहले की बहस के साथ जुडे मुद्दे पर एक बार पुनः लौटते हैं। वहां इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा था कि क्या मार्क्सवाद विभिन्न वंचित समूहों, समुदायों को जगह देता है? भारतीय संदर्भों में इसका आशय जातिगत सामाजिक संरचनाओं के साथ स्त्री समुदाय के साथ ही है। इस मामले में सबसे क्लासिकल उदाहरण 'गोदान' का ही है। संभवतः 'गोदान' भारतीय साहित्य में पहली कृति है, जो दलितों के विद्रोह को पूरी गरिमा के साथ व्यक्त करती है। उसी तरह यह कृति स्त्री स्वरों को जिस उद्दात्तता से व्यक्त करती है, उसकी तुलना मुश्किल से ही मिलेगी। झुनिया के मामले में धनिया न केवल स्त्री यौनिकता को ही स्वीकारती है, बल्कि इसके साथ वह स्त्री यौनिकता की सामाजिक मूल्यवत्ता को भी प्रतिष्ठित करती है।

असल में मार्क्सवाद के विरुद्ध पूर्वोक्त किस्म के आरोप यथास्थितिवादियों और प्रतिक्रियावादी वर्ग की ओर से लगाए जाते हैं, क्योंकि मार्क्सवाद की समग्रता न केवल हर एक उत्पीडित वर्ग को स्वयं में समाहित करती है, बल्कि इससे भी बड़ी बात कि शोषण मुक्त और न्यायकारी व्यवस्था के स्वप्न को भी प्रतिष्ठित करती है। यही कारण है कि प्रतिक्रियावादी वर्ग को कभी भी विमर्शवादी साहित्य से आपत्ति नहीं होती है।

इससे सबंधित प्रश्न नवीकृत पूंजीवादी संरचना यानि वैश्वीकरण के सापेक्ष या 90 की

विभाजक रेखा के साथ विमर्शकारी साहित्य के संबंध का है। इस संदर्भ में यह बात तुरंत स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं इस विमर्श या हाशिए के समूह के स्वरों की गंभीरता और इन स्वरों के उत्सवीकरण में भेद करता हूँ। सबसे पहली बात कि व्यापक सामाजिक हित की भावना से लिए गए साहित्य में कभी भी स्त्री या दलित पक्ष को नज़र अंदाज नहीं किया गया है। हाँ, आभिजात्यवादी सौंदर्यदृष्टि ही इन दोनों ही समूहों को अग्राह्य रखती रही है। भक्ति साहित्य की शानदार परंपरा में कबीर से लेकर रैदास तक, और ललद्य से लेकर मीरा तक ऐसे पक्षधर स्वरों का अभाव नहीं दिखेगा। लेकिन रीतिवादी साहित्य में न केवल अभाव, बल्कि (खासतौर से स्त्री समुदाय) के प्रति ये स्वर प्रतिक्रियावादी ही रहे हैं। और यदि आधुनिक समय पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहते हो, तो दलित चेतना की सबसे शानदार अभिव्यक्ति डॉ. अम्बेडकर वैश्वीकरण की उपज नहीं थे, और न ही सरोजिनी नायडू व कमला दास वैश्वीकरण का 'उत्पाद' थीं। असल में हिन्दी साहित्य में पनपी ये नई प्रवृत्तियाँ अपने स्वस्थ रूप में हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का ही विकास है, और यह हिन्दी साहित्य के लिए एक उपलब्धि के समान हैं। ये प्रवृत्तियाँ प्रगतिशील परंपरा के अनुरूप क्यों हैं, इसका सबसे माकूल जवाब यह है कि इन दोनों ही प्रवृत्तियों में साहित्य के आधारभूत प्रश्नों (प्रगतिशील परंपरा द्वारा निर्धारित) व उत्तरों पर प्रगतिशील परंपरा से मतैक्य रहा। 'साहित्य क्यों लिखा जाए' और 'साहित्य के मूल्यांकन का क्या आधार है' ही वे दो प्रश्न हैं, जिनके विषय में पूर्वोक्त जिक्र किया गया।

लेकिन 90 का दशक हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा में मौजूद इस उपलब्धि का ही साक्षी नहीं रहा, बल्कि इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रवृत्ति केअनुरूप यह समय 'कुछ' विरोधी विचारों का भी साक्षी रहा, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य को अपनी इस नवीनतम उपलब्धि के श्रेय की तुलना में नुक़सान ज्यादा उठाना पड़ा (पड़ रहा है)। सोवियत पतन ने प्रत्यक्ष रूप से प्रतिक्रियावादी-बुर्जुआ वर्ग के चिंतकों-लेखकों-रचनाकारों को यह कहने का मौका दिया कि 'मार्क्सवाद अप्रसांगिक हो चुका है'। हॉलाकि यह कहना केवल फ़िकरेबाज़ी थी, और इसके पीछे न तो कोई तर्क पद्धति थी, न ही मार्क्सवाद की कोई समझ ही (हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा की उपलब्धि के रूप में मार्क्सवाद की प्रसांगिकता रेखांकित की जा चुकी है)। जाहिर सी बात है कि इस तरह की फ़िकरेबाज़ी को प्रतिक्रियावादी-बुर्जुआ वर्ग द्वारा खूब समर्थन प्राप्त हुआ, और रात के रात अनेक मार्क्सवादियों ने अपने लिबास बदल लिए; और अपनी 'उपाधियों' के आगे 'उत्तर' शब्द को जोड़ लिया। इसका भी बहुत गहरा कारण है। यह हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा की बहुआयामिता कहिए, या प्रगतिशील आंदोलन की व्यापकता कि हिन्दी साहित्य में आधिकारिक रूप से कोई दक्षिणपंथ नहीं मौजूद है, ले-देके इन प्रवृत्तियों का जो पोषक समूह मौजूद है, वह कलावादियों के रूप में मौजूद रहा है। ऐसी स्थिति में (कम से कम हिन्दुस्तान में तो जरूर) लिबास बदलने वाले 'उत्तर' मार्क्सवादियों के लिए पूँजीपति-बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठने के सिवा कोई और विकल्प शेष नहीं था। यहाँ यह कहना

जरूरी है कि इन लिबास बदलने वालों को प्रतिक्रियावादी-बुर्जुआ वर्ग ने हाथों-हाथ लिया, क्योंकि 'उत्तर' के बावजूद मार्क्सवादी शब्द बौद्धिक प्रतिष्ठा व जनपक्षधरता के पर्याय के समान है, और बुर्जुआ वर्ग ने इस बौद्धिक प्रतिष्ठा व जनपक्षधरता का अपने पूँजीवादी तंत्र के माध्यम से बखूबी फ़ायदा उठाया।

जाहिर है 'वैश्वीकरण' के नाम से जिस तरह की वैचारिकी को सामने लाने का प्रयास किया गया है, वह वैचारिकी वही है, जो सोवियत विघटन के बाद उत्पन्न हुए वैचारिक विभ्रम का फायदा उठाने के लिए निर्मित की गई थी। 'इतिहास का अंत' से लेकर 'सभ्यताओं के संघर्ष' जैसी शब्दावली पूर्वोक्त का ही उदाहरण है। यह सारी शब्दावली यथास्थितिवाद को ही प्रश्रय देती है, और इसके प्रयोग का परिणाम यह होता है कि स्वतंत्रता का आभास देने वाली अभिव्यक्तियां अपने मूल स्वर में मनुष्य (समूह व समुदाय) विरोधी होती जाती हैं।

चमकदार वाक्यों और सूक्तियों से 90 के बाद कवियों का दीर्घ मोह दिखाई देता है, वरना कोई कारण नहीं कि 'अमरूद की खुशबू' से लेकर 'ठजवुजाती' जैसे शब्द-शब्द युग्मों का प्रयोग हो पाता, और कृत्रिम किस्म के भावबोध को 'रचने' का प्रयास किया जाता। बाकी विधाओं की रचनाओं की तरह इस विधा में इस तरह के शब्द-शब्द युग्म से प्रेम की निर्यति इतिहासबोध के अभाव के रूप में होना स्वाभाविक था (है)। इस संदर्भ में समकालीन कविता का ही एक उदाहरण प्रस्तुत है:

गजानन की कृपा
और ऐसा तुक-ताल
विश्व की दो महान घटनाएँ
ऐसी संग-साथ
इधर लाल लोचन बिहारी की फ़तह
उधर ओवामा की चुनाव परिणाम (लाल लोचन बिहारी, लालगंज और मनोरमा, अंशुल त्रिपाठी, नया ज्ञानोदय, मई, 2011)

मनुष्य को 'मनुष्य की गरिमा' से वंचित करने पर ही 'शनीचरों' का जन्म होता है। 'लाल लोचन बिहारी' के साथ ऐसी स्थिति हो, तो क्या आश्चर्य! लेकिन इससे भी बड़े आश्चर्य की बात 'ओवामा का चुनाव परिणाम' है। यह इतिहासबोध या समयबोध नहीं, बल्कि साम्यता (जिसका पहले जिक्र किया जा चुके है) का कुत्सित प्रयास है। बिल्कुल इसी तरह समाज की शोषक संरचनाओं के विषय में सतही समझ का मामला है। यह प्रवृत्ति जिस नक़ाब में सामने आई है, उससे सभी बखूबी परिचित हैं।

वह जिस चाकू से
काटती थी सब्जी
उससे दुःख का गला रेत सकती थी
पर जिस हत्या के अपराध में

शामिल होने से

कतराती रही उम्र भर

उसके चूल्हे में जो आग थी (रंजना श्रीवास्तव, 'क्या कहना है कामरेड!' (हंस, जुलाई, 2012)

इस पूरी कविता में कवयित्री का प्रयास है कि घर की चहारदीवारी में गृहस्थी चलाने में स्त्री का जो संघर्ष है, उसे रेखांकित कर पाए। परन्तु सारी सद्भावनाओं के बावजूद दुःख इतना सरल होकर उभरता है, जिसे किसी भी चाकू से काटकर खत्म किया जा सकता है! यह स्थिति न तो शोषक संरचनाओं के बारे में पाठकों में किसी किस्म का आक्रोश उत्पन्न करती है, न ही विद्रोह की किसी किस्म की चिंगारी को ही सामने लाती है। जबकि इसके विपरीत भारती की जिस कविता को पूर्वोक्त उद्धृत किया गया है, वह अपनी सच्चाई में सभ्यता के मूल्यांकन करने वाले काव्य विवेक में तब्दील हो जाती है।

समकालीन हिन्दी कविता में दो तरह की मनुष्य विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें एक का पूर्वोक्त जिक्र किया ही जा चुका है। दूसरी प्रवृत्ति कविता में अत्यधिक सरलता के 'मायाजाल' को बुनने की है। यह मायाजाल इस तरह का होता है कि यथार्थ इस हद तक अपरिचितिकरण का शिकार हो जाता है कि वह किसी दूसरी दुनिया के ही यथार्थ में तब्दील हो जाता है। जाहिर सी बात है कि यह स्थिति भी साहित्य में पनपी मनुष्यविरोधी प्रवृत्तियों की परिचायक है। इसके अलावा इन्हीं प्रवृत्तियों के दायरे में कविजन शिल्प को अपनी रचनात्मकता से नहीं, बल्कि हथौड़े से तोड़ने की कोशिशें करते (और 'उत्तर' चिंतक उसे प्रमाणित करते हुए) अमूमन दिखाई देते हैं। यह सब केवल धूर्तता के सिवा और कुछ नहीं है। शिल्प को लेकर समकालीन हिन्दी कविता में दो किस्म के शानदार प्रयोग हुए हैं, जो वास्तविकता में न केवल गरिमामय हैं, बल्कि 'उत्तर' संरचनाओं से मुकाबला करने की ताकत रखते हैं। इनमें एक प्रयोग देवीप्रसाद मिश्र ने किया है, जिन्होंने कविता को तीन समानांतर कॉलमों में लिखकर समय की जटिलताओं के अंतर्संवादी रूप को जाहिर करने का प्रयास किया है। हॉलाकि यह बहुत सीमित प्रयोग है, लेकिन बहुत अधिक संभावनाधर्मी है। इसके अलावा शिल्प (व कथ्य) के स्तर एक दूसरा प्रयोग केदारनाथ सिंह ने किया था, जिसका बेहतर विस्तार जितेन्द्र श्रीवास्तव में देखा जा सकता है, जिसमें समकालीन 'विमर्श' की चमकदार लेकिन अर्थरहित भाषा के सापेक्ष बहुत ही सरल, सहज भाषा को काव्य शिल्प का हिस्सा बनाया गया है। यह सचेत प्रयास है। इस प्रयास की गरिमा यह है कि यह वैश्वीकरण की तथाकथित जटिल सरंचनाओं का विरोध अपने इस काव्य शिल्प के माध्यम से करता है। हॉलाकि यह दोहराना जरूरी है कि काव्य शिल्प की इस सहजता को अर्जित करना बहुत कठिन कार्य है, और इसके लिए साहित्य के प्रति गंभीर सरोकारों की जरूरत पड़ती है। एक उदाहरण से यह बात ज्यादा स्पष्ट हो जाएगी:

पिताओं दौड़ो

और फूलों से भर दो बेटियों का अंचरा

देखना कोई गलती न करना
कोई हड़बड़ी भी नहीं
वरना न जाने किस घाट लगेंगी बोटियाँ ('पुकार', कायांतरण, जितेन्द्र श्रीवास्तव)

इस कविता की पूर्व में उद्धृत की गई उस कविता से तुलना कीजिए, जिसमें 'ओबामा के चुनाव परिणाम' की समकालीनता को जीवन अनुभव से जोड़ने का प्रयास किया गया था। भाषा के अष्टावक्र प्रयोग के बावजूद पूर्व कविता न तो कविता-पात्र के प्रति किसी किस्म की संवेदना को ही जाहिर कर पाती है, न ही कवि के घोषित ऐजेण्डे (यानि वैश्वीकरण या अमरीकी नीतियों) को ही कहीं स्पष्ट कर पाती है। जबकि अपनी सहज भाषा व साधारण (इस शब्द के सिवा कोई और शब्द प्रयोग करने का विकल्प नहीं है, लेकिन यह 'साधारणता' सुदीर्घ साहित्य साधना का परिणाम है) काव्य शिल्प के माध्यम से संदर्भित कवि वैश्वीकरण की नीतियों व प्रभाव को आसानी से व्यक्त कर देता है। इस लेख में जितेन्द्र श्रीवास्तव की उद्धृत की गई कविता की इस मामले में गवाही दी जा सकती है।

सारभूत रूप से सोवियत विघटन हिन्दी साहित्य की युग विभाजक रेखा के रूप में मौजूद है। इस विघटन ने 'मानवीय मुक्ति' की संभावनाओं के साथ विचारधारात्मक स्तर व्यापक प्रभाव डाला है। साहित्य के स्तर पर यह प्रभाव इस रूप में पड़ा है कि साहित्य के आधारभूत प्रश्न परिदृश्य से ओझल हो गए हैं। 'साहित्य क्यों' इसी तरह का आधारभूत प्रश्न है। इस दौर में मौजूद धुंधलके का ही परिणाम है कि राही मासूम रजा की तरह यह कहने का साहस कोई नहीं कर पाता कि साहित्य समाज बदलने के लिए लिखा जाता है। इस तरह साहित्य कर्म के साथ जुड़ी विचारहीनता व मनुष्य विरोधी प्रवृत्तियाँ वर्तमान परिदृश्य का एक पक्ष है। लेकिन इसी के साथ इस परिदृश्य में उम्मीद की रोशनी भी मौजूद है। प्रगतिशील विचारों की उर्वरता ने हिन्दी साहित्य में बिल्कुल वंचित वर्ग के स्वरों को जन्म दिया है, और इस संवेदना से मुख्यधारा के साहित्य को गंभीर रूप से प्रभावित किया है; इसका परिणाम यह है कि वंचित वर्ग न केवल अपने स्तर पर, बल्कि दूसरे वर्ग-समुदाय (प्रगतिशील) केलेखक भी 'समान-अनुभूति' को साझा करके उत्कृष्ट रचनाएँ कर रहे हैं।

'कुत्सित समाजशास्त्र' ने साहित्य आलोचना में कई अतार्किक समाजद्रोही किस्म की बहसों को भी जन्म दिया है। इनमें से एक बहस का केंद्र 'भोगा हुआ यथार्थ' या 'अनुभव की प्रामाणिकता' है। प्रतिक्रियावादी वर्ग की मान्यता रही कि जो व्यक्ति (व समुदाय) यथार्थ का भोक्ता रहा है, वही इस 'यथार्थ' को कलमबंद करने का अधिकारी है। यह विचार बहुत आकर्षक प्रतीत होता है, और सतही तौर पर 'अनसुनी' आवाज़ों के पक्ष में भी प्रतीत होता है। परन्तु तार्किक रूप से यह विचार बिल्कुल निर्वीर्य है, क्योंकि 'यथार्थ भोक्ता' को अपना यथार्थ दर्ज करने केलिए घटना से दूरी की आवश्यकता होती है (साहित्य समाचार पत्रों की ख़बरों की तरह तुरंत तो जन्म नहीं लेता है); ऐसे में कोई प्रतिश्रुति नहीं है कि यथार्थ के रूप में बदलाव नहीं होगा? यदि 'यथार्थ भोक्ता' के द्वारा किए गए बदलाव को स्वीकार किया जा सकता है, तो

समान-अनुभूति वाले दूसरे रचनाकार को क्यों नहीं स्वीकार किया जा सकता है, जब कि 'यथार्थ भोक्ता' भी अपने अलावा कृति में मौजूद दूसरे पात्रों को समान-अनुभूति के आधार पर ही तो दर्ज करता है?

असल में इस कुत्सित बहस (या विमर्श) के माध्यम से प्रतिक्रियावादी वर्ग ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य के दलित व नारीवादी स्वरों को एक सीमित दायरे में रखकर इन विचारों को निस्तेज करने का प्रयास किया है। 90 के दशक के आरंभ में लिखी गई इस कविता से इस पूरी बहस का मूल्य ही नहीं स्पष्ट होगा, बल्कि हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा के विकास (जिसका जिक्र आरंभ में किया गया) का अंदाजा हो पाएगा:

और स्त्रियाँ कभी बाँझ नहीं होतीं
वे रचती हैं तभी हम आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुष में नहीं होता (सोन चिरई, अनभै कथा, जितेन्द्र श्रीवास्तव)

बिल्कुल इसी तरह से स्वस्थ इतिहासबोध की इस अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है:

वे न होते तो लखनऊ न होता
आधा इलाहाबाद न होता
मेहराबें न होतीं, गुम्बद न होता
आदाब न होता
मीर मक़दूम मोमिन न होते
शबाना न होती
वे न होते तो उपमहाद्वीप के संगीत को सुननेवाला ख़ुसरो न होता
वे न होते तो पूरे देश के गुस्से से बेचैन होनेवाला कबीर न होता
वे न होते तो भारतीय उपमहाद्वीप के दुख को कहनेवाला ग़ालिब न होता
मुसलमान न होते तो अट्ठारह सौ सत्तावन न होता
वे थे तो चचा हसन थे
वे थे तो पतंगों से रंगीन होते आसमान थे
वे मुसलमान थे (मुलसमान, देवीप्रसाद मिश्र)

ऐसे में साहित्य के 'उत्तर' चिंतकों के सरोकार तो स्पष्ट हो ही जाते हैं। लेकिन इसके अलावा यहाँ इस बात पर जोर देना जरूरी है कि स्वस्थ मस्तिष्क, स्वस्थ इतिहासबोध और सच्ची जनपक्षधरता का सरोकार मात्र 'अबोले' लोगों के 'बोलने' तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका सरोकार उस पूरी व्यवस्था, सामाजिक संरचना को चिंह्नित करने और उसे बदलने का है, जिसने अपने शोषण, कपट और लंपटता द्वारा 'बोलने' वालों को 'अबोले' में बदल दिया था (है)। सच्ची जनपक्षधरता का सरोकार समाज से लेकर साहित्य तक की दुनिया में प्रसारित किए जा रहे नए किस्म के जातिवाद को प्रश्रय देना नहीं, बल्कि उसका पूरी तरह से उन्मूलन

(Inhalation) करना है। नारीवादी व दलित स्वरों का सच्चा विकास वही होगा, जब इस साहित्य को इन प्रत्ययों (दलित या नारीवादी) के बिना मुख्यधारा के साहित्य में मान्यता प्राप्त होगी।

इस सारी बहस का यह अंतिम हिस्सा कविता की आलोचना पर केंद्रित है। साहित्य की इस विधा में भी लगभग वही सारी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, जिनका पूर्वोक्त जिक्र किया गया है, परन्तु कुछ विशेष मुद्दे शेष हैं, जिनकी चर्चा का यहाँ प्रयास किया जा रहा है। अभी हाल में प्रकाशित हुई दो कविताओं ने हिन्दी में बौद्धिक बहसों में बहुत अधिक प्रमुखता पाई है। इसमें कोई दो राय नहीं कि इन दोनों ही कविताओं में किंचित कमजोरियां मौजूद रही हैं, और यह मनुष्यदृष्टि और समाजदृष्टि के नाते कोई उत्कृष्ट उदाहरण नहीं पेश करती हैं। संदर्भ के कहना ज़रूरी है कि ये दोनों ही कविताएं 'ब्रेस्ट कैंसर' जैसी भयावह बीमारी को केंद्र बनाकर लिखी गई हैं। कवियों ने कविताओं में जो किया, वह तो किया ही गया। इससे बुरी बात यह ही कि कुछ एक प्रगतिशील आलोचकों ने उन काव्य पंक्तियों की भी रक्षा का प्रयास किया, जो स्त्रीविरोधी ही नहीं, बल्कि आज की संवेदना की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी ही हैं। ये काव्य पंक्तियां कुछ इस तरह से हैं-

वह इन दोनों को कभी शहद के छत्ते
तो कभी दशहरी आमों की जोडी कहता
उनके बारे में उसकी बातें सुनकर बौराई..
....
उसे कॉलेज में पढे बिहारी आते याद
उस वक़्त उस पर इनके बारे में
सुने गए का नशा हो जाता दो गुना (स्तन, पवन करण)

यहां कवि ने दुःख की भीषणता, दारुणता को व्यक्त करने के लिए पूर्वराग जैसी स्थिति को निर्मित करने का प्रयास किया है। लेकिन आश्चर्यजनक बात यह है कि स्त्री स्वतंत्रता के महासंग्राम के युग में भी रहते हुए स्त्री के सौंदर्य के मानक 17-18 शताब्दी के चुने गए हैं। यह स्थिति कुछ वैसी ही जैसी कि फ्रायड व युंग के प्रभाव में एक समय हिन्दी साहित्य में 'साडी-जम्पर उतारोवाद' की धूम मच गई थी। मानसिक दिवालिएपन की स्थिति यह देखिए इस कविता की रक्षा के एक आलोचक बहस में पोर्न स्टारों का जिक्र करते हुए मान्यता व्यक्त करता है कि 'पोर्न स्टार बनने का फैसला खास तौर पर स्त्री एक के लिए इतना अपमानजनक क्यों होना चाहिए?' (आशुतोष, कथादेश, अगस्त, 2012) इस प्रश्न के साथ यहां कला की सामाजिक भूमिका, कला की सामाजिकता और स्वयं कला की परिभाषा के लिए ही संकट उत्पन्न हो गया है। संभव है कि यहां पर इन आलोचक को नैतिकता शब्द से बदहजमी ही हो जाए।

यहां अवकाश नहीं है कि इस बहस को आगे बढाया जाए, लेकिन इतना उल्लेख करना बहुत ज़रूरी है कि समकालीन परिदृश्य में क्रांतिकारिता के नाम पर कुछ ऐसी प्रवृत्तियों को वैधता प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है, जो समाज विरोधी है। हॉलाकि इस तरह की

प्रवृत्ति की यह कर भी व्याख्या की जा सकती है कि ये प्रवृत्तियां इस दौर के वैचारिक विभ्रम को भी बिल्कुल स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं।

अंतिम तौर पर यह कहना होगा कि इस समकालीन दौर में हिन्दी साहित्य पूँजीवादी प्रचार माध्यमों की चमक-दमक से व्यापक रूप से प्रभावित हुआ है, जिसमें भाषा से लेकर कथ्य व शिल्प तक में ऐंद्रजालिक प्रयोगों की शुरूआत हुई, जबकि सामाजिक दृष्टिकोण से यह दौर भारतीय समाज के लिए किसी भीषण आपदा से कम नहीं रहे हैं। ऐसे में कोई भी समाज और साहित्य के बीच उत्पन्न हुई दूरी का आसानी से अनुमान कर सकता है। हॉलाकि कई बार (सतही किस्म की) वैश्वीकरण विरोधी व मनुष्य वंचन के विषय में रचनाएँ दिखाई देती हैं, परन्तु वे भी बिल्कुल गरिमाहीन व ढोंग का पर्याय मात्र हैं, क्योंकि इतने गंभीर विषयों के बावजूद कथ्य व शिल्प में ऐंद्रजालिक प्रयोग व यथार्थ के स्थान पर किसी त्रासद मायालोक की रचना विषयों के सरोकारों की बलि ले लेता है। इस बात को बहुत गंभीरता से समझना चाहिए कि वैश्वीकरण के बाद मौजूद दुनिया के यथार्थ को किसी इंद्रजाल से नहीं, बल्कि सहजता से ही व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि वैश्वीकरण के बाद की दुनिया स्वयं किसी इंद्रजाल के समान है। इन स्थितियों के बीच कई रचनाकार हैं, जो अपने कथ्य व शिल्प की सरलता व समाज की द्वंद्वात्मक समझदारी से हर पल आश्वस्त करते हैं।

समकालीन कविता : चुनौतियाँ और संभावनाएँ
(संदर्भ : केदारनाथ सिंह की कविता)

—हृषिकेश कुमार सिंह

कविता समय तथा समाज की उपज होती है। उसका संबंध मनुष्य के हृदय से है, उसके भावों से और रागात्मक संबंधों से है। कविता का बुनियादी काम संप्रेषण है। अच्छी कविता वही होती है जिसे पाठक पढ़ते हुए उससे जुड़ता चला जाता है। कवि के मनोभाव से अपने मनोभाव को जोड़ता है। एक बात और भी है, कविता के शब्द वही रहते हैं, जो रचना-काल में परिवर्तित होते हैं। ऐसी सामर्थ्य जिस कविता में होती है, उसकी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता सदा के लिए बनी रहती है। स्नेह, संवेदना, करुणा, सद्भाव, बंधुत्व आदि मूलभूत मानव मूल्यों को लिए हुए कविता मनुष्य मात्र को एकता के सूत्र में पिरोने का काम करती है।[1] इस उद्धरण मे वे सारी बातें समाहित हो गई हैं जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता के वैशिष्ट्य के संबंध में 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध में कही है।

कोई भी रचना तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु नहीं रची जाती है। रचना वह है जो अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के संदर्भों में भी अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने की सामर्थ्य रखती है। यही 'समकालीन' होने की पहली कसौटी है। अमूमन 'समकालीन' शब्द को ज़्यादातर बहुत ही संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया जाता है। जैसे- एक लेखक के लिए 'समकालीन' के दायरे में अक्सर वही आता है, जो उसके अपने रचनाकाल में उपस्थित हो। यही 'समकालीन' की संकीर्ण अवधारणा है। चंचल चौहान का कहना है अपने आलेख 'समकालीन सृजन और आलोचना' में कि समकालीन का अर्थ युगसापेक्षता से निर्धारित करना चाहूँगा, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की समकालीनता भी शामिल होगी।[2] रघुवीर सहाय ने समकालीनता को वहुत ही व्यापक अर्थ में परिभाषित किया है। इसको उद्धृत करते हुए नंदकिशोर नवल ने लिखा है, मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनंत संभावनाओं का द्वार अपने लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को वदलने में जो संलग्न होता है वही समकालीनता का धर्म-निर्वाह करता है।[3] अतः कह सकते हैं कि 'समकालीनता' को घड़ी या कैलेंडर से तय करना मुमकिन नहीं है।

समकालीनता सहज प्राप्य नहीं है बल्कि इसे अर्जित करना पड़ता है। अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करते हुए, हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है। ठीक तालस्ताय की उस साइकिल की तरह जिसने धूल झाड़कर इतिहास में प्रवेश किया था, उसे हर आदमी और हर समय के पीछे-पीछे घंटी बजाकर बाहर निकलने का रास्ता खोजना होता है— उस दिन जो साइकिल ने / धूल झाड़कर इतिहास में प्रवेश किया / तो जैसे आजतक / हर आदमी के पीछे-पीछे घंटी बजाती हुई /उससे बाहर निकलने का / रास्ता खोज रही है ...[4]

हमारे समाज में जहां सड़क पर बैलगाड़ी और मोटरगाड़ी एक साथ मौजूद हों तथा आसमान में हवाई जहाज और पक्षी दोनों समान भाव से चक्कर काटते हों, वहां एक रचनाकार एक ही समय में मौजूद कई अलग-अलग परिस्थितियों का समवर्ती होकर ही समकालीन हो सकता है। यथा -आप पाएँगे वहाँ शब्दों ने पीसकर / समय को बराबर कर दिया है / और अब वहाँ सारा समय एक जगह इस तरह है / कि आपको लगेगा जैसे ब्रह्मसूत्र / पढ़ रहा है मुक्तिबोध को / और शाकुंतल का हिरन / कुछ कह रहा है पद्मावत के तोते से / और बीजक का कोई पद / किसी पोथी से छिटककर / मनु से बहस कर रहा है / और रासो की कोई सबसे पुरानी प्रति / धीरे-धीरे गुनगुना रही है / किसी युवा कवि की अप्रकाशित कोई कविता... [5]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि एक ही समय में कई समकालीनताएं समानान्तर रूप से विद्यमान होती हैं।

अपने समय में लिखना एक बात है और समकालीन होना दूसरी बात। एक बड़ा और समर्थ कवि वही है जो अपने समय में लिखकर समकालीन भी है। इसके लिए आवश्यक है कि रचनाकार अपने समय की मुख्य सामाजिक दशा या परिस्थिति की नब्ज को पढ़ पाए, उसे पकड़ सकेऔर उसकी परख कर सके। इस विंदु पर पहुँचकर समकालीनता में एक किस्म की 'समसामयिकता' अंतर्निहित हो जाती है और 'जिसके कारण अनावश्यक अतीत से छुटकर हम वर्तमान में फैल जाते हैं और जीवित मानवता के साथ समन्वित हो जाते हैं।' जीवित मानवता के साथ समन्वित हो जाना ही कविता का वह 'जनतांत्रिक' पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति हमें सत्तर के दशक में, विशेषकर आपातकाल के बाद, देखने को मिलती है और जिसने उत्तर आधुनिक-विमर्श और औपनिवेशिक मानसिक-ग्रंथियों के विरुद्ध एक प्रतिरोध के रूप में अपनी 'स्थानीयता' को खोजा और दर्ज किया। केदारनाथ सिंह इस वैशिष्ट्य को अपनी कविताओं में रेखांकित करते हुए लिखते हैं - मुझे आदमी का सड़क पार करना / हमेशा अच्छा लगता है / क्योंकि इस तरह / एक उम्मीद-सी होती है / कि दुनिया जो इस तरफ है / शायद उससे कुछ बेहतर हो / सड़क केउस तरफ। [6] और

मेरे दोस्त, कितना मुश्किल है / भरी सड़क पर / एक पत्ते की तरह उड़ना / और इस शहर दिल्ली में / सुबह से शाम तक / अपनी चेतना के अंदर / एक बूढ़े उदास गड़रिये का चेहरा / लिए-लिए फिरना? [7]

कवि केदारनाथ सिंह का 'स्थानीयता-बोध' ही उनकी कविताओं का 'प्राण-तत्व' है और यह प्राण-तत्व पाठक के मन में जीवन-सौंदर्य के भाव जगाता है। अपने आस-पास जीवन-सौंदर्य की पहचान करने तथा उनसे अपनत्व स्थापित करने के लिए कवि में जिस 'ऐंद्रिक बोध' का होना आवश्यक है, वह केदार जी के काव्य-व्यक्तित्व का एक अनिवार्य और अविभाज्य अंग है। वस्तुओं, रंगों, गंधों और आवाजों को पकड़ने और उन्हें मूर्त करने में इन्हें महारत हासिल है। यही कारण है कि इनके काव्य-लोक में हमें 'सतरंगी इंद्रधनुष' की सी छटा दिखाई देती है। ये रंग वहाँ और अधिक गाढ़े हो उठे हैं जहाँ मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य है और यह साहचर्य सर्वत्र इनकी कविताओं में विद्यमान है। प्रकृति के साहचर्य में कवि को साहस और ताजगी प्राप्त होती है - मैंने गंगा को देखा / प्रचंड लू के थपेड़ों के बाद / जब एक शाम / मुझे साहस और ताजगी की / बेहद जरूरत थी ...[8]

केदारनाथ सिंह पर यह आरोप भी है कि वह प्रकृति और मनुष्य के ज्वलंत संदर्भों से सीधे-सीधे टकराने से बचते हैं। प्रकृति को आदिम अवस्था में देखने की उनकी आँखें अभ्यस्त-सी लगती हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रकृति में आए बदलाव या विकास के स्वरूपों को वह नजरंदाज कर देते हैं।[9] इस आरोप के प्रत्युत्तर में मैं केवल केदारनाथ जी की 'सूर्य : 2011' शीर्षक कविता को उद्धृत करना चाहूँगा, जिसमें कविता का वही 'जनतांत्रिक' रूप और 'प्रतिरोधात्मक' प्रवृत्ति विद्यमान है जिनकेआधार पर वर्तमान कविता में समकालीनता की हदें तय की जा सकती हैं - मैं उसे इसलिए भी जानता हूँ / कि वह ब्रह्माण्ड का / सबसे सम्पन्न सौदागर है / जो मेरी पृथ्वी के साथ / ताप और ऊर्जा की तिजारत करता है / ताकि उसका मोबाइल / होता रहे चार्ज / और इस समय जबकि हम / यानी लाखों वर्ष पुराना वह / और पचहत्तरवर्षी मैं / दोनों एक ढाल से उतर रहे हैं / मैं उसे जानता हूँ / जैसे एक समकालीन जानता है / दूसरे समकालीन को।[10]

इस कविता को पढ़ने के उपरांत केदार जी पर लगाया गया उपरोक्त आरोप स्वतः निर्मूल सिद्ध हो जाता है। प्रकृति और मनुष्य के बीच के रिश्तों की सही पहचान करने के साथ ही वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन में जो जटिलताएँ, तनाव और बदलाव आए हैं, केदारनाथ सिंह उससे अनभिज्ञ नहीं हैं। पोकरण में परमाणु विस्फोट हो या मनुष्य पर 'ग्लोबलाइजेशन' की मार, केदार जी की इन सब पर पैनी नजर है- अचानक वह रुका / उसने मेरी तरफ देखा / और धीरे से बोला- / सुनो, मेरी समस्या यह है / कि वह कौन-सा नियम है भाषा का / जिससे पोकरण में होनेवाला बम-विस्फोट / चुपकेसे बन गया था बुद्ध की मुस्कान...[11] और

सवालों के सीखचों से घिरा मैं / किसी आदिम का अनंतिम सिरा मैं / सोचता था-विपुल पृथ्वी घूमता / इस गली में क्यों भटकता आ गया / इस अजब ग्लोबल समय में गली क्या / याद करना भूलना बेकली क्या / पाँव फिर भी क्यों रुके-से, हाथ क्यों / चाहते हैं बढ़के छू लें द्वार को / कहा मन ने- और मन की बात क्या / उसके कैलेंडर में छै क्या सात क्या /

कहा उसने- क्यों न दस्तक दूँ जरा / कौन रहता है यहाँ- पूछूं जरा / हँस पड़ा मैं- क्योंकि हँसने के सिवा / उस गली में रास्ता कोई न था।[12]

भूमंडलीकरण के यथार्थ के सामने 'जड़ों की खोज' करना ही केदार जी को अभिप्रेत है। कविताओं में व्यक्त उनके विचार इस बात के उपयुक्त उदाहरण हैं कि सच्चाई के प्रति उनका रुख वास्तविक प्रतिरोध का है न कि पलायन का- सच्चाई यह है / कि अपनी त्वचा के भीतर / मैं आज भी इतना वानस्पतिक हूँ / कि जब भी मेरे माथे पर / गिरती है ओस / मेरे भीतर कुछ हो जाता है बेचैन / उससे बात करने केलिए / कभी-कभी लगता है / और पिछले कुछ समय से / कुछ ज्यादा ही लगता है / कि ओस केआगे मेरी इसी लाचारी ने / मुझे जिन्दा रखा है अब तक / विश्व-बाजार के इस बढ़ते आतंक में...[13]

केदारनाथ सिंह 'मानवीय सरोकारों' के कवि हैं। इनकी कविताओं का लक्ष्य मानवीय संवेदना का प्रसार है। इनकी कविताएं एक मित्र की भांति कंधे पर हाथ रख, ढांढस बंधाती, बोलते-बतियाते आगे बढ़ती है। 'मांझी का पुल' शीर्षक कविता में केदार जी की इस खूबी को हम लक्षित कर सकते हैं- मैं सोचता हूँ / और सोचकर काँपने लगता हूँ / उन्हें कैसा लगेगा अगर एक दिन अचानक पता चले / वहाँ नहीं है मांझी का पुल ! / मैं खुद से पूछता हूँ / कौन बड़ा है / वह जो नदी पर खड़ा है मांझी का पुल / या वह जो टंगा है लोगों केअंदर ?[14]

इस जड़ पुल का सचेतन मनुष्यों से ऐसा पुराना एवं आत्मीय नाता है कि पुल अपनी समस्त जड़ता और अपरिवर्तनशीलता के बावजूद मनुष्य की चेतना में घुल-मिल कर उनके जीवन का हिस्सा बन गया है। इसी मानवीय रिश्ते को वे किस खूबसूरती से 'हाथ' कविता में उकेरते हैं, द्रष्टव्य है - उसका हाथ / अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा / दुनिया को / हाथ की तरह गरम और सुंदर होना चाहिए।[15]

इन काव्य-पंक्तियों की सहजता के तल में छुपा है सौंदर्य। सौंदर्य - व्यक्ति को समूह के साथ जोड़ने का, सौंदर्य - परिश्रम का, संघर्षशीलता का। दुनिया की खूबसूरती अकेले चलने में नहीं, सबके साथ चलने में निहित है - पानी में घिरे हुए लोग / अपने साथ ले आते हैं पुआल की गंध / वे ले आते हैं आम की गुठलियाँ / खाली टिन / भुने हुए चने / वे ले आते हैं चिलम और आग / ....मगर पानी में घिरे हुए लोग / शिकायत नहीं करते / वे हर कीमत पर अपनी चिलम के छेद में / कहीं-न-कहीं बचा रखते हैं / थोड़ी-सी आग।[16]

वर्तमान युग में पूरा विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है और विनाशकारी शक्तियाँ निरंतर अपने प्रयासों में जुटी हैं। इससे एक ओर उदासी और निराशा है तो दूसरी ओर वर्चस्ववाद, मुक्त बाजार और प्रौद्योगिकी की आक्रामकता, उद्दंडता और हिंसा के प्रति गहरे क्षोभ और प्रतिरोध को भी देखा जा सकता है। ऐसे परिवेश में केदार जी की कविताएं दूसरे तरह की प्रवृत्ति का द्योतक बनकर उभरी हैं - ध्वंस है- / यह भाषा का सरासर ध्वंस है / बुदबुदा रहा था कवि / और कभी वह किताब के पास जाता था / कभी खिड़की के पास / कि अचानक खुशी से चीख उठा वह- / वो देखो....वो देखो.... / उन परों का हिलना भी / एक छोटा-सा विस्फोट है /

दुनिया केसारे विस्फोटों के खिलाफ।[17]

समकालीनता सिर्फ रचना की अंतर्वस्तु से जुड़ा प्रश्न नहीं है। यह शिल्प और भाषा का भी प्रश्न है। 'शब्दों के स्वभाव के पारखी कवि' केदारनाथ सिंह ने शब्दों के जीने-मरने की सच्चाई की काव्यात्मक व्यंजना इस तरह की है - ठण्ड से नहीं मरते शब्द / वे मर जाते हैं साहस की कमी से / कई बार मौसम की नमी से / मर जाते हैं शब्द।[18]

'जीवन के कर्मशील संस्कृति में शब्दों की सही सार्थकता ही उनका जीवन है और निरर्थकता मौत।' कई बार विशिष्ट परिस्थितियाँ (सामाजिक-राजनीतिक माहौल) भी कुछ शब्दों को मार देती हैं। केदार जी जब कहते हैं कि 'मौसम की नमी से मर जाते हैं शब्द' तब मौसम का आशय इन्हीं विशेष परिस्थितियों से है। केदार जी की दूसरी कविताओं में भी 'मौसम' इन्हीं विशेष परिस्थितियों की ओर संकेत करता है। 'उमस' कविता में मौसम का प्रयोग देखिए- पर मौसम चाहे जितना खराब हो / उम्मीद नहीं छोड़तीं कविताएं।[19]

या फिर 'बाघ' कविता में आए मौसम पर गौर कीजिए- सच्चाई यह है कि हम शक नहीं कर सकते / बाघ के आने पर / मौसम जैसा है / और हवा जैसी बह रही है / उसमें कभी भी और कहीं भी आ सकता है बाघ।[20]

इन पंक्तियों की बड़ी ही सुंदर व्याख्या करते हुए मैनेजर पाण्डेय जी लिखते हैं- अगर आप 'बाघ' कविता के मौसम को केवल मौसम, हवा को हवा और बाघ को सिर्फ बाघ समझते हैं तब आपको यह कविता समाज से नहीं, जंगल से जुड़ी प्रतीत होगी जो कि वह नहीं है। लेकिन अगर आप बदलते सामाजिक मौसम और नयी राजनीतिक हवा को पहचानते हैं तब इस 'ढलती शताब्दी के पंचतन्त्र' के मौसम, हवा और 'बाघ' का अर्थ समझते देर न लगेगी। तब आप इस सच्चाई पर शक नहीं करेंगे कि 'मौसम जैसा है और हवा जैसी बह रही है, उसमें कभी भी और कहीं भी आ सकता है बाघ' अगर पूरे देश में या अपने आस-पास घटती घटनाओं को ध्यान से देखें तो पाएँगे कि यह कवि की कल्पना नहीं है, हमारे जीवन की सच्चाई है।[21]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि केदारनाथ सिंह की कविताएं मानवीय सरोकारों में गहन अभिरुचि रखती हैं और अमानवीय परिस्थितियों को बेनकाब करते हुए उनका मुखर विरोध करती हैं। वास्तव में संघर्षशीलता का सौंदर्य यही है जो समाज के संकट को रेखांकित करती प्रभुता, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं देश के अधिसंख्यक जन के शोषण के खिलाफ प्रतिरोध की मशाल जलाए हुए है- केदार कविता-यात्रा के हर प्रस्थान-विंदु पर कोई कठिन चट्टान तोड़ते हैं जो सुंदर हो जाती है कोई और कठिन चट्टान तोड़ते हैं जो और सुंदर होती चली जाती है। ऊर्जा और कला का यह सार्थक संगठन केदार की एक खासियत है।[22]

संदर्भ-सूची

1. कविता का समकालीन प्रमेय ; अरुण होता ; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर ; प्रथम

संस्करण, 2015 ; भूमिका से उद्धृत पृ vii

ार के

2. समकालीन सृजन और आलोचना (आलेख) ;चंचल चौहान ; वागर्थ, जून 2015 ; सं एकांत श्रीवास्तव -कुसुम खेमानी ; पृ 7
3. समकालीन काव्य-यात्रा ; नंदकिशोर नवल ;किताबघर, नयी दिल्ली , संस्करण, 1994 पृ.8
4. तालस्ताय और साइकिल ; केदारनाथ सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण, 2005 ; 'तालस्ताय और साइकिल' पृ 69
5. तालस्ताय और साइकिल ; केदारनाथ सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण, 2005 ; 'पांडुलिपियाँ' पृ 18
6. प्रतिनिधि कविताएं ; सं परमानन्द श्रीवास्तव ; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली ; पुनर्मुद्रित:1996 ; 'उस आदमी को देखो' पृ 85-86
7. वही ; 'गड़रिये का चेहरा' पृ 72
8. वही ; 'मैंने गंगा को देखा' पृ 23
9. कविता का वैभव ; विनोद दास ; शिल्पायन, दिल्ली ; संस्करण 2006 ; 'धारदार चाकू नहीं, सुंदर चाकू' पृ 79-80
10. वागर्थ, मार्च 2014 ; सं एकांत श्रीवास्तव - कुसुम खेमानी ; 'सूर्य : 2011' पृ 75-76
11. तालस्ताय और साइकिल ; केदारनाथ सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण, 2005 ; 'बुद्ध की मुस्कान' पृ 83
12. वागर्थ, मार्च 2014 ; सं एकांत श्रीवास्तव - कुसुम खेमानी ; 'एक दिन अचानक' पृ 81
13. तालस्ताय और साइकिल ; केदारनाथ सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण, 2005 ; 'अपनी खबर' पृ 41
14. प्रतिनिधि कविताएं ; सं परमानन्द श्रीवास्तव ; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली ; पुनर्मुद्रित:1996 ; 'माँझी का पुल' पृ 20
15. वही ; 'हाथ' पृ 41
16. वही ; 'पानी में घिरे हुए लोग' पृ 66-67
17. तालस्ताय और साइकिल ; केदारनाथ सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण, 2005 ; 'बुद्ध की मुस्कान' पृ 84
18. प्रतिनिधि कविताएं ; सं परमानन्द श्रीवास्तव ; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली ; पुनर्मुद्रित:1996 ; 'शब्द' पृ 15
19. वही ; 'उमस' पृ 121
20. वही ; 'बाघ' पृ 124
21. हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान ; मैनेजर पाण्डेय ; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली ; प्रथम संस्करण, 2013 ; पृ 198-199
22. प्रतिनिधि कविताएं ; सं परमानन्द श्रीवास्तव ; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली ; पुनर्मुद्रित:1996 ; भूमिका से उद्धृत, पृ 7

समकालीन कविता में दलित चेतना

—विजय कुमार भारती

साहित्य के संदर्भ में समकालीनता का सीधा सम्बंध नये संदर्भों और नये भावबोध से जुड़ना है।[1] प्रगतिशील कविता के विकास की अगली कड़ी समकालीन कविता है जो नये भावबोध के साथ अमानवीय व्यवस्था के विरोध से उपजी है। विशेषतः उस अमानवीय व्यवस्था का विरोध, जिसका लोकतंत्र से गहरा सम्बंध है। क्योंकि सत्तर के दशक तक लोकतंत्र का मुखौटा लगाने वाले सत्ताधारी वर्ग की असलियत प्रकट हो चुकी थी। इस असलियत को समझ पाने की सामर्थ्य के कारण ही कवियों ने अपने समय की जड़ीभूत कविता का तिरस्कार किया और स्वयं को उस दलदल से बाहर निकाला। इसमें कोई संदेह नहीं कि धूमिल जैसे कवि भी अकविता की चपेट में थे। 1960 के बाद जो अकविता आयी थी वह नकार का दर्शन ले कर आयी थी, जो एक फैशन की तरह प्रयुक्त होने लगी। परंतु धूमिल, कुमार विकल और रमेश गौड़ जैसे कवियों ने नकार को लोकतंत्रिक चेतना के औज़ार में तब्दील किया। कहने का अभिप्राय यह है कि समकालीन कविता के कवियों ने लोकतांत्रिक व्यवस्था की गहरी जाँच-पड़ताल की। उन्होंने यह महसूस किया कि वर्तमान समय का सबसे बड़ा संकट है लोकतांत्रिक चेतना का अभाव। उन्होंने यह भी महसूस किया कि कविता समकालीन चुनौतियों से कटती चली जा रही है। इसलिये समकालीन कविता का जितना आक्रोश वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था के प्रति है उससे कम आक्रोश कुंठित और आत्मकेंद्रित कविता के प्रति नहीं है। धूमिल के शब्दों में- कविता में आने से पहले / मैं आपसे ही पूछता हूँ /जब इससे न चोली बन सकती है / न चोंगा; / तब आपे कहो - तो इस ससुरी कविता को / जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा ? (कवि,1970) यद्यपि लोकतंत्र के केंद्रीय सवालों में स्त्री के सवाल, दलित के सवाल, साम्प्रदायिकता के सवाल समकालीन कविता में उभर कर आने लगे। धूमिल की चर्चित कविता 'पटकथा' में भी ये सवाल कही न कहीं मौजूद हैं। इन सवालों की गंभीरता के संदर्भ में पूरनचंद जोशी की यह टिप्पणी ध्यातव्य है - पिछले पचास वर्षों में आर्थिक दासता और सामाजिक विषमता के कुछ उग्र रूप ही समाप्त

हुए या कम हुए हैं। लेकिन बाल शोषण, जातीय विषमता, नारी के यौन तथा अन्य प्रकार के शोषण तथा अत्याचारों के रूप में सामाजिक उत्पीड़न घटा नहीं है। निश्चित रूप में हर स्तर पर नये पुराने रूपों में जारी है।[2]

यद्यपि दलित चेतना के सवाल समकालीन कविता में उपस्थित होने लगे थे। धूमिल की एक कविता का प्रमुख चरित्र 'मोचीराम' है, जिसकी पेशेगत विडम्बना का एक अंश कविता में उभर कर आया है। इस प्रकार ये सवाल तो आ रहे थे पर केंद्रीय सवाल के रूप में नहीं। जो भी हो, समकालीन कविता में दलित प्रश्नों की अनदेखी नहीं है। रघुवीर सहाय के शब्दों में- बनिया बनिया ही रहे / बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ ही रहे / पर कविता लिखे तो आधुनिक हो जाये। इस प्रकार समकालीन कविता ने दलित चेतना की कविताओं को एक नया स्वर दिया। यह स्वर मूलतः नकार का था। मराठी दलित कविता से लेकर हिंदी दलित कविता में परम्परा, इतिहास, धर्म तथा संस्कृति के नकार का एक स्वर सुनाई देता है। वैसे चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने चार्वाक, अश्वघोष, बुद्ध आदि के हवाले से यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन संस्कृत और पाली साहित्य जो कि विशुद्ध भारतीय है, हमें बताता है कि जातिवाद का विरोध केवल आज के युग की बात नहीं है, यह संघर्ष बहुत पुराना है।[3]

बहरहाल जो भी हो, दलित कविताओं के बारे में हरिनारायण ठाकुर का यह कहना है - आधुनिक दलित कविताओं के स्वर और उनकी संवेदनाएँ इतनी मारक, सीधी और आमजीवन के निकट हैं कि उनकी अर्थ-व्यंजना में सामान्य से सामान्य पाठक को भी कोई कठिनाई नहीं होती।[4] स्पष्ट है कि दलित कविता ने भले ही दलित जीवन को आधार बनाया हो पर यह आम आदमी की पीड़ा को भी आधार बनाती है। दलित चेतना की कविता मूलतः दलितों के बारे में ईमानदारी से लिखी गयी कविता है। चाहे वह दलित द्वारा लिखित हो या गैर दलित द्वारा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जातिवादी पोंगापंथ से जो ग्रस्त हैं चाहे वे दलित हो या गैर दलित, वह किसी भी तरह सामाजिक परिवर्तन का हिस्सा नहीं बन सकते। बल्कि ऐसे लोग तो सामाजिक परिवर्तन की धार को कुंद कर देते हैं। बांग्ला के प्रसिद्ध कवि सुभाष मुखोपाध्याय के शब्दों में- जामार नीचे पोइते / आस्तीनेर तलाय ताबीज ढेके / एकनिकायो कुलिनेर छ/ आमाके परिष्कार बोझालो/दुनियाटा के कि भाबे बदलाते हबे।[5]

दलित चेतना की कविताओं ने हिंदी कविताओं की संवेदनाओं का विस्तार किया है। दलित चेतना की कविताएँ मातृत्व के सवाल को भी कटघरे में खड़ा करती हैं। मार्मिक सवाल है कि जाति के आधार पर एक माँ दूसरी माँ से कैसे श्रेष्ठ हो जाती है? - मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत / तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन। / कितने ताज्जुब की बात है / जबकि प्रजनन क्रिया एक जैसी है । / वह दिन कब आयेगा / बामनी नहीं जनेगी बामन / चमारी नहीं जनेगी चमार / भंगिन भी नहीं जनेगी भंगिन / तब नहीं चुभेंगे / जातीयहीनता केदंश।[6] कबीर की पीड़ा भी लगभग यही थी। कितना पीड़ादायक होता है यह जातीयहीनता का दंश। यह दंश पूरी प्रतिभा को ग्रस लेता है, मूक बना देता है। इस दंश के प्रकोप से बाहर निकलना कोई

मामूली काम नहीं।

हालांकि जयप्रकाश कर्दम की कविता माँ की व्यथा के बहाने दलित समाज को कटघरे में खड़ा करती है। असल में आरक्षण से दलितों के जीवन में आंशिक बदलाव आये, सुविधाएँ मिलीं पर दूसरी तरफ सुविधाभोग की प्रवृत्ति ने उन्हें आत्मकेंद्रित बनाया तथा उनकी चेतना को कुंद किया। अतः कर्दम जी ऐसे सुविधाभोगी और आत्मकेंद्रित दलित समाज की आलोचना करते हैं। सब अपने आप में मस्त हैं / अपनी-अपनी फैमिलियों में व्यस्त हैं / सब अच्छा पी-खा रहे हैं। दुनिया के साथ कम्पटीशन में आ रहे हैं। / सबके जीवन में आह्लाद है । / सबके जीवन में सबेरा है । / लेकिन माँ की जिंदगी में आज भी अँधेरा है।[7] यदि ध्यान दें तो 'चीफ की दावत' कहानी की माँ की त्रासदी भी कुछ ऐसी ही है।

दलित चेतना की कविताओं के केंद्रीय सवाल राजसत्ता और धर्मसत्ता से भी जुड़े हैं। आलोचक कँवल भारती के शब्दों में - दलित कविता सिर्फ इसलिये दलित कविता नहीं है बल्कि वह इसलिये भी दलित कविता है कि उसने शोषण करने वाली व्यवस्था को बेनकाब किया है। वह न सिर्फ राजसत्ता से बल्कि धर्मसत्ता से भी टक्कर लेती है।[8] वर्तमान समय में भी धर्म क्रूर और हिंसात्मक चरित्र के साथ उपस्थित हो रहा है। चाहे वह हिंदू हो, इस्लाम हो या बौद्ध धर्म। ऐसा नहीं है कि उदारवादी लोगों का अभाव है पर वे धर्म सत्ता के हाशिये पर डाल दिये गये हैं मराठी कवि लोकनाथ यशवंत अपनी कविता में धर्मसत्ता के इस चरित्र को बखूबी पहचानते हैं । 'धर्म' शीर्षक कविता में वे कहते हैं - पालतू कुत्ते जैसा / धर्म को सहलाते- सहलाते / कब हाथ में आ गयी तलवार / पता ही नहीं चला।[9] प्रायः दलित अम्बेडकर की तर्ज पर धर्म परिवर्तन को महत्त्व देते हैं परंतु कवि का नजरिया भिन्न और बेहद प्रगतिशील है। 'धर्मांतरण' शीर्षक कविता में वे कहते हैं- और उसके पश्चात क्या हुआ / हम सब अंदर की जेल से छूटकर बाहर की जेलों में आ गये।[10] वास्तव में धर्म एक सत्ता के चरित्र का वहन करता है। ऐसे में वह मनुष्यों केअनुसार नहीं बल्कि अपने नियमों और रिवाजों के अनुसार मनुष्य को बदलना चाहता है। इसलिये धर्म उन मनुष्यों को स्थान नहीं देता जो बौद्धिक और परिवर्तनशील हैं, उनको स्थान देता है जो पोंगापंथी और रूढ़िवादी हैं। ऐसे धर्म परिवर्तन से आम जनता कैसे लाभान्वित हो सकती है। धर्म परिवर्तन किसी भी अर्थ में पाखंड परिवर्तन नहीं है। इस संदर्भ में अरुण कुमार त्रिपाठी की यह टिप्पणी गौरतलब है - निश्चित तौर पर अछूतों ने धर्मांतरण के बाद राहत की साँस ली है। लेकिन हिंदू समाज की वर्ण व्यवस्था का सभी धर्मों पर प्रभाव पड़ा है। इस काजल की कोठरी में घुस कर निकलते हुए कई सयाने धर्मों के हाथ काले हो गये हैं। फिर हर धर्म की अपनी सीमाएँ और समस्याएँ हैं। इसीलिये धर्मान्तरण मुक्ति का मार्ग नहीं, मृग मरीचिका साबित हुआ है। धर्मांतरण का सिद्धांत पीड़ित जाति की मुक्ति नहीं, बल्कि अपने धर्म की अनुयायियों की संख्या बढ़ाने केउद्देश्य पर टिका है।[11]

समकालीन कविता ने अपने दौर में मतदान प्रक्रिया के दुरुपयोग पर गहरी चिंता व्यक्त की। जिसका सम्बंध लोकतांत्रिक चेतना के हनन से है। दलित चेतना की कविताएँ भी इसको

गंभीरता से देखती हैं क्योंकि रुग्ण चुनाव प्रक्रिया मूलतः दलितों और गरीबों के विरुद्ध जाती है। सी.बी. भारती की कविता 'घर' ऐसे ही सवालों को लेकर आती है - और यहाँ मौसमी नेता और दलाल / बिकते हैं जो पाउचों पर / कर देते नीलाम जो बची खुची आबरू भी / और दे देते हैं अपना अमूल्य वोट / जिन्होंने किया है बेघर उन्हें / सजाये हैं जिन्होंने अपने महल / उन्हीं की ठिठुरती हड्डियों से।[12] देखा जाय तो चुनावी भ्रष्टाचार के शिकार विपन्न और दलित होते हैं। यदि वे इससे बाहर निकल पाते तो हमारे देश में लोकतंत्र की एक दूसरी तस्वीर होती। यही वजह है कि सत्ता परिवर्तन तो हो रहा है पर चरित्र परिवर्तन नहीं।

दलित चेतना कृषि मजदूरों की पीड़ा को भी आत्मसात करती है। दलित कृषकों की विडम्बना यह है कि वे भूमिहीन हैं अर्थात् वे कृषि मजदूर हैं। पंजाबी कविता 'बाबुल तेरे खेतों में' की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं - बाबुल तेरे खेतों में / कभी-कभी मैं नाच उठती हूँ / हवा के झोंके जैसे / ऐसे ही भूल जाती हूँ / कि (ये) खेत हमारे नहीं हैं / कुछ दिन रहने का बहाना (है) / मुकदमें हार बैठे हैं / पैसे न होने के कारण / स्लीपर टूट चुके हैं / भखड़ा उग आया है / बाबुल तेरे खेतों में / ट्रैक्टर नाचेंगे किसी दिन / बाबुल तेरे खेतों में।[13] एक खेतिहर मजदूर का सपना है कि कब उसका खेत, अपना ट्रैक्टर होगा। ये सपने मेहनत के हैं, विलासिता के नहीं।

दलित चेतना अम्बेडकर की विचारधारा को महत्त्व देती रही है। अम्बेडकर ने मूलतः शिक्षित होने का नारा दिया था। वे जानते थे शिक्षा और योग्यता के बिना दलितों की स्थिति में सुधार संभव नहीं है। शिक्षा और योग्यता ही मनुष्य को सामाजिक स्वीकृति दिलाती है। अतः बांग्ला कविता 'हरिसिंह हरिजन' में कवि कहता है- सुनो, हरिसिंह हरिजन / हम तुम्हें कुर्सी नहीं देंगे / तुम खुद उठो और आगे बढ़कर / अपनी काबिलियत से / इसे हथियाओ अपने लिये ...जबरन।[14]

दलितों के लिये बड़ी विडम्बना रही, कम्युनिस्टों द्वारा दलितों को निष्क्रिय बनाये रखना तथा उनकी समस्याओं की उपेक्षा करना। कम्युनिस्ट पार्टी और दल से दलितों को बड़ी उम्मीद थी। उन्हें लगता था कि शोषक वर्ग का विरोध करने वाले हर तरह के शोषण का विरोध करेंगे। पर ऐसा नहीं हुआ क्योंकि जातिवाद और सामंतवाद के चरित्र को जीते हुए दलितों के शोषण का विरोध सम्भव नहीं। इसीलिये तेलगू कवि शंबूक कम्युनिस्टों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- सेवक बनाया / पर तुमने भी तो नेतृत्व परिरक्षण के कोलाहल में / प्रतिभाहीन की मोहर लगाकर / मुझे पार्टी के अनुशासन में बंदी बनाया / मुझे पार्टी के गूँगे सेवक के रूप में बदलकर / अपने स्थान को सुरक्षित रखा और - / मुझे अपने ही हाल पर छोड़ दिया।[15] इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह टिप्पणी बिल्कुल सही है- दलित साहित्य न मार्क्सवाद का विरोधी है, न जनवाद का। दलित रचनाकार उस दोहरी मानसिकता का विरोधी है जो बाहर से मार्क्सवादी, साम्यवादी और भीतर से फासिस्टों की पक्षधर है।[16]

वर्तमान समय में दलितों को दुहरे संकट का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ दलित जातिवाद का अपमान और उसकी यंत्रणा झेलते हैं तो दूसरी तरफ आरक्षण का विरोध और

अपमान। प्रायः यह मान लिया जाता है कि आरक्षण से आया हुआ व्यक्ति अयोग्य होता है। जबकि आज सत्ता ही योग्यता को पारिभाषित कर रही है। जातिवादी घृणा और हिंसा का बदला हुआ चेहरा है आरक्षण विरोध। गुजराती कवि चंदू महेरिया की कविता 'चेतावनी' फफून गाँव में दलितों पर किये जानेवाले सामूहिक उत्पीड़न पर लिखी गई है- इलाहाबाद में एस.सी. / और फफून में चमार / एक आरक्षण और अनंत हत्याकांड / एक टुकड़ा रोटी का ... और / टूट पड़ता आसमान [17].

दलित चेतना की कविताएँ वर्ग भेद को भी आधार बनाती हैं। इस प्रकार ये कविताएँ मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़ती हैं। दलितों की समस्या को जाति और वर्ग को संयुक्त रूप से आधार बनाकर ही समझा जा सकता है। अतः कुछ दलित कविताएँ संपन्न दलित और विपन्न दलित की गहराई से पड़ताल करती हैं। क्योंकि वर्ग भेद ने दलित समाज को और भी पीछे ढकेल दिया है। गुजराती कवि नीरव पटेल 'माँ ! मैं भला कि मेरा भाई' शीर्षक कविता में कहते हैं - आज तू दो पैसेवाला हो गया / और गोश्त खाने लगा तो गुरूर करता है / और तेरे पास दो पैसा ज्यादा / तो मुड़दाल खाने वाले को भाई ही नहीं समझता?[18] गौर करें तो यह विडम्बना सिर्फ दलित समाज की नहीं है बल्कि पूँजीवादी संस्कृति के इस दौर में लगभग हर समाज की है। इस प्रकार दलित कविताएँ अपनी संवेदनाओं का विस्तार करती हैं। इस संदर्भ में विमल थोरात की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है- दलित कविता व्यक्तिगत अनुभवों से सम्पृक्त होने के साथ ही समूह मन के अनुभवों की अनुभूति भी है।[19] दलित विमर्श की बहस का केंद्रीय मुद्दा रहा है सहानुभूति और स्वानुभूति का। और ये दोनों ही पक्ष दलित साहित्य के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं। परंतु दलित चेतना की कविताओं में स्वानुभूति की गंभीरता की अनदेखी नहीं की जा सकती। कँवल भारती की यह कविता इस प्रश्न को बड़ी बेवाकी से रखती है- लेकिन गोरख पाण्डेय ने गलत लिखा था / वह चिड़िया भूख से नहीं चिड़िया होने से पीड़ित थी / कवि इस अनुभव से गुजरा नहीं था / उसकी श्रेणी जन्म से पूज्य थी / वह कैसे जानता / गरीबी नहीं / सामाजिक बेइज्जती अखरती है ? / वह कैसे जानता / वह चिड़िया थी इसलिये गुनहगार थी, / चिड़िया जो मारी गयी। [20] निश्चित तौर पर एक दलित के लिये गरीबी से भी ज्यादा भयावह होता है आत्मसम्मान का बारम्बार रौंदा जाना।

दलित चेतना की कविताओं में स्त्री चेतना के स्वर भी मुखरित हुए हैं। सुशीला टाकभौरे 'तुमने उसे कब पहचाना' शीर्षक कविता में कहती हैं- कोयला खदानों में / हीरा ढूँढा जाता है / मगर घर का हीरा / कोयला जैसा जलाया जाता है। / उपेक्षा की ठंडक और / आक्रोश के तनाव से / नारी व्यक्तित्व को / रौंदा जाता है ! [21] यह सच है कि दलित समाज में भी पुरुष सत्ता व्याप्त है और उसकी कीमत स्त्री प्रायः चुकाती है। अतः दलितों की मुक्ति के सवाल स्त्री मुक्ति से अलग नहीं हो सकते। इतिहास साक्षी है कि शोषण तंत्र ने हमेशा कमजोर लोगों को अपना शिकार बनाया है। इसलिये यह मामला सिर्फ स्त्रियों तक और विशेषतः किसी विशेष समाज की स्त्रियों तक सीमित नहीं है। क्योंकि स्त्री और पुरुष के प्रायः सम्बंध परिवार व्यवस्था

के बाहर या एकांगी नहीं हैं। इसलिये यदि इनमें से किसी की क्षति होती है तो यह क्षति परिवार से होती हुई समाज और फिर राष्ट्र की क्षति में तब्दील हो जाती है। विमल थोरात ने इस सच्चाई से हमें अवगत कराया है- .... सामाजिक आर्थिक और धार्मिक दबावों के अलावा दलित आदिवासी लड़कियों को शिक्षा हासिल करने में पितृसत्तावादी दबाव झेलना पड़ता है। [22]

इसके अतिरिक्त दलित कविताओं की सीमा यह है कि इनमें कहीं-कहीं आक्रोश का अतिरेक है। अतीत का घोर दबाव है इसलिये इसकी पुनरावृत्ति है। अतीत में लौटने से वर्तमान का बोध गुम हो जाता है। कहीं- कहीं मिथकों के प्रयोग का दुहराव दिखाई देता है तथा मिथकों को नये अर्थ देने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। निश्चित तौर पर इनमें आक्रोश का सौंदर्य तो है परंतु कहीं-कहीं आक्रोश का अतिरेक भी है। इन कविताओं की भाषा प्रायः बोलचाल के निकट और सपाट है पर संवेदना और विरोध का अनूठा सामंजस्य भी है। नये मुहावरे गढ़ने की कोशिश भी है।

दलितों का मुद्दा सिर्फ जाति का मुद्दा नहीं है, सामाजिक न्याय से जुड़ा संवेदनशील प्रश्न है। सच्चिदानंद सिन्हा के शब्दों में - जातिगत पिछड़ेपन और अक्षमता के मामले को जब सामाजिक न्याय के नजरिये से सुलझाते हैं तब समाज को जोड़ने वाली शक्तियाँ ताकतवर होती हैं और समानता और निष्पक्षता जैसे बुनियादी मूल्यों के इर्द-गिर्द समाज के सभी समूहों को एकजुट करती हैं।[23] अतः जरूरी है कि दलित समाज स्वयं एकजुट होकर अपने संघर्ष में गैर दलितों को भी शामिल करने की स्थितियाँ पैदा करे। कोई भी लड़ाई यदि अकेली लड़ी जायेगी वह कुचल दी जायेगी और यदि सफल हो भी गई तो उसके दूरगामी परिणाम नहीं होंगे। इस सच्चाई की तरफ ध्यान देने की जरूरत है कि नेक और ईमानदार लोगों को कोई शक्ति विभाजित नहीं कर सकती बशर्ते उनको कोई जोड़ने वाला हो। यही वजह थी कि अंबेडकर ने दलित समाज के लोगों से कहा था- आप लोगों को अन्य समाज के लोगों के साथ काम करना सीखना चाहिये। आप लोगों में आपस के बिखराव से काम नहीं चलेगा।[24]

संदर्भ

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.162
2. जोशी, पूरनचंद, आजादी की आधी सदी स्वप्न और यथार्थ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2003, पृ.169
3. जिज्ञासु, चंद्रिका प्रसाद, दलित वैचारिकी की दिशाएँ, बद्री नारायण(सं.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2008, पृ.71
4. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2009, पृ.410
5. मुखोपाध्याय, सुभाष, बांग्ला दलित साहित्य सम्यक अनुशीलन, बजरंग बिहारी तिवारी (सं.), नयी किताब, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2016, पृ.23

6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'वह दिन कब आयेगा', दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ. 66
7. कर्दम, जयप्रकाश, लालटेन, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ. 84
8. भारती, कँवल, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ. 23
9. यशवंत, लोकनाथ, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.) , साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ. 347-348
10. यशवंत, लोकनाथ, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.347
11. त्रिपाठी, अरुण कुमार, हरिजन से दलित, राजकिशोर (सं.) वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2004, पृ. 65-66
12. भारती, सी.बी., दलित निर्वाचित कविताएँ , कँवल भारती (सं.) , साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ.12
13. लाल सिंह 'दिल', दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ. 323
14. अनिल सरकार, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.281
15. शंबूक, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ.264
16. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृ.96
17. मेहरिया, चंदू 'चेतावनी', दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.239
18. पटेल नीरव, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2006, पृ. 233
19. थोरात, विमल, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (ओमप्रकाश वाल्मीकि) से उद्धृत, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001, पृ.81
20. भारती, कँवल, 'चिड़िया जो मारी गयी', दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती (सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.206
21. टाकभौरे, सुशीला, दलित निर्वाचित कविताएँ, कँवल भारती(सं.), साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.13
22. थोरात, विमल, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ.100
23. सिन्हा, सच्चिदानंद, जाति व्यवस्था : मिथक, वास्तविकता और चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 220
24. अंबेडकर, और बाबासाहेब अंबेडकर ने कहा (खंड-5), एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति', राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृ. 329-330

समकालीन दलित कविता में प्रतिरोध का स्वर

—विनोद कुमार

बीसवीं शताब्दी के नब्बे के दशक में दलित कविता को विशेष रूप से महत्त्व मिला। दरअसल, इस समय साहित्य में नये विमर्शों को अपनी पूरी सामार्थ्य के साथ उभारने का अवसर मिला। ऐसा नहीं है कि दलित कविता इसके पहले लिखी न गई थी या उस पर चिंतन नहीं हुआ था। हिन्दी कविता में दलित चिंता हिंदी कविता के प्रारंभिक दिनों से जाहिर हुई है। सिद्ध नाथ साहित्य में भी इसके पदचिह्न पाए जाते हैं। परंतु यहाँ हमारा उद्देश्य समकालीन दलित कविता में निहित प्रतिरोध का स्वर उद्घाटित करना है।

समकालीन दलित कविता समय की मांग है जो समाज की विसंगतियों को यथार्थ के साथ उजागर करती है। इन दिनों अनेक दलित कविताएँ आ गई है। दलित कवियों ने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव को सामाजिक जीवन के रूप में अभिव्यक्त किया है। इन रचनाओं ने भारतीय समाज को गहराई तक झकझोरा है। असल में 'आत्म' की अभिव्यक्ति मुक्ति का पहला पायदान है। शायद इसीलिए सभी दलित कवियों ने आत्मकथन प्रमुखता से लिखा है। इन कविताओं ने रचना के इतिहास में नयी शुरूआत की है। जातिवाद, गरीबी, सांस्कृतिक शोषण व इन सबसे मुक्ति को प्रमुखता दी गई है। दलित कविता मुख्य धारा के साहित्य के आरोपों को नकारता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर है। उसने ऐसी समस्याओं को सामने रखा है। जिसे पहले समस्या ही नहीं माना गया। नवजागरण कालीन कविता की वास्तविकता को प्रस्तुत करते हुए कँवल भारती कहते हैं— "यह कहना ठीक होगा कि समाज और कविता लगभग अलग-अलग चल रहे थे। जो समाज में था वह कविता में नहीं था और जो कविता में था वह समाज में नहीं था। यदि साहित्य समाज का दर्पण है, तो उस काल के साहित्य में समाज लगभग अनुपस्थित था।"[1] दलित साहित्य स्थापित वर्चस्व के नकार का साहित्य है। इस नकार के तहत भगवान, भाग्य, पुनर्जन्म, पुरानी परंपराएँ, विकृत रूढ़ियाँ, हिन्दुत्ववाद का आडम्बर, खोखले मापदण्डों वाली भारतीय संस्कृति और उच्च जातियों के अहम, दम तथा स्वार्थ को, महिमामंडित करती हुई उनकी गौरव गाथाएँ, चमत्कार, मनगढ़ंत इतिहास, शास्त्र, पुराण,

स्मृतियाँ, श्रुतियों और आर्यो द्वारा भारत के मूल निवासियों का असुर राक्षस कहकर अपमानित करने की योजनाबद्ध ऐतिहासिक साजिश तथा शूद्रों के शास्त्र सम्मत परम्परागत शोषण का नकार है।

हीरा डोम की प्रसिद्ध कविता 'अछुत की शिकायत' 1914 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इस कविता के अन्तर्गत दलितों की मूलभूत समस्याओं को उठाया गया है। यह विशुद्ध रूप से दलित संवेदना की कविता है। हीरा डोम ईश्वर को कटघरे में खड़ा करते हैं। वे पूछते हैं कि खम्भा फाड़ कर प्रहलाद को बचाने वाला, मगरमच्छ के मुँह से गजराज को बचाने वाला, दुर्योधन से द्रौपदी की लाज बचाने वाला और कनकी अंगुली पर पर्वत उठाने वाला भगवान अछूतों की क्यों नहीं सुनता ? कवि कहते हैं - खंभवा के फारि प्रहलाद के बचवले जा / ग्राह के मुहें से गजराज कै वचवले / धोती जुरजोधना के मइया छोरत रहै, / परगट होके तहाँ कपड़ा लड़वले। / मरले खनवाँ के पलले ममिखना के, / कानी अंगुली पै धैके पथरा उठवले। / कहंवा सुतल वाटे सुनत न वाटे अब / डोमा जानि हमनी के हुए से डेरइले।"[2]

भारतीय समाज वर्ण व्यवथा पर आधारित है। इस समाज में जाति कर्म से नहीं जन्म से स्वीकार की जाती है। मनुस्मृति में साफ उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण का जन्म मुख से, क्षत्रिय का जन्म भुजा से, वैश्य का जन्म उदर से तथा पैर से शुद्रों की उत्पत्ति हुई। संभव है मनु द्वारा की गई स्थापनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक तर्क रहा हो किन्तु कालान्तर में समाज ने सिर्फ इसके शाब्दिक अर्थ को स्वीकार किया। इसी कारण समाज का सही स्वरूप नहीं बन पाया। कवि केवलानन्द वर्णवादी व्यवस्था का खण्डन करते हुए लिखते हैं – "ब्राह्मण कहते मुख से पैदा मुक्ख फार फिर आये क्यों ना।। / क्षत्री कहते भुजा से पैदा भुजा फार फिर आये क्यों ना।। / वनियां कहते उदर से पैदा टूडी में भिल्ल बनाये क्यों ना।। / चारों वरण भग द्वारे ही आये कहने में शरमाये क्यों ना।।"[3]

वर्ण व्यवस्था दलित समाज के लिए एक अभिशाप बन गया। दलितों का जीवन पशुओं से भी वदतर हो गया। परिणामस्वरूप पूरे भारतीय वाड.मय को समकालीन दलित कवि खारिज करने लगे। सारे भारतीय मूल्य इनके लिए मूल्यहीन हो गये। मुकेश मानस शास्त्रों को मिथ्या वताते हैं साथ ही उस पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं – "जहाँ वेदों और स्मृतियों की / भेड़िया धसान है / जहाँ जात ही इंसान की / एकमात्र, पहचान है / और ऊँची जात का / हैवान भी महान है / हम ऐसे देश के वारिस नहीं हैं।"[4]

नीश्ते ईश्वर के मरने की बात करते हैं किन्तु दलित तो ईश्वर को अपना दुश्मन समझते हैं क्योंकि इसी का भय दिखाकर उनके समाज का शोषण हुआ है। समकालीन कवि मुकेश मानस 'फासिस्ट' कविता में लिखते हैं – मैंने कहा / ईश्वर आदमी का दुश्मन है / उसे अपनी शिक्षा पर खतरा लगा / उसने मुझे मार दिया।[5]

समकालीन जीवन जल संकट से जूझ रहा है। क्योंकि जल को व्यवसाय से जोड़ दिया गया है। जिस तरह कोयला, लोहा, पत्थर आदि अर्थोपार्जन के साधन बन गये हैं उसी प्रकार

जल भी बोतल वंद होकर पूँजीपतियों की मुट्ठी का खजाना हो गया है। दलित समाज जल की समस्या से वर्षों से जूझ रहा है। स्वतंत्रता से पूर्व दलितों की स्थिति में सुधार हेतु अनेक आन्दोलन चलाये गये। अम्बेडकर ने 'महार' में सार्वजनिक तालाब से पानी लेने का अधिकार के लिए आन्दोलन किया था। वही प्रेमचन्द ने दलितों के जल की समस्या को केन्द्र में रखकर 'ठाकुर का कुआँ' कहानी लिखी थी। दलित साहित्य के मूर्धन्य रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि 'ठाकुर का कुआँ' शीर्षक कविता में कहते हैं – "चूल्हा मिट्टी का / मिट्टी तालाब की / तालाब ठाकुर का / भूख रोटी की / रोटी वाजरे की / बाजरा खेत का / खेत ठाकुर का। / बैल ठाकुर का / हल ठाकुर का / हल की मूठ पर हथेली अपनी / फसल ठाकुर की। / कुआँ ठाकुर का / पानी ठाकुर का / खेत-खलिहान ठाकुर के / गली-मुहल्ले ठाकुर के / फिर, अपना क्या? / गाँव ? / शहर ? / देश ?"[6]

दलित साहित्य के प्रतिष्ठित रचनाकार मोहनदास नैमिशराय का कहना है- 'दलित कविता एक सामाजिक आन्दोलन का सामाजिक प्रतिफलन है। अन्य काव्यधाराओं और साहित्यिक परंपराओं की अपेक्षा उसका सीधा सम्वन्ध जीवन की जमीन से है।"[7] यह समाज श्रम पर आधारित है। कठिन, परिश्रम के वावजूद इन्हें दो वक्त की रोटी नहीं मिलती। इनके लिए सामाजिक व्यवस्था इतनी क्रूर है कि मेहनत के बदले इन्हें जूठन मिलता है और सदियों से वे जूठन से ही पल-वढ़ रहे हैं। अतः इस व्यवस्था से विद्रोह और मुक्ति दलित कविता का मुख्य स्वर है। कवि मलखान सिंह की कविता' मुझे गुस्सा आता है' में समाज व्यवस्था की सत्यता को बेनकाव किया गया है – मेरा माँ मैला कमाती थी / वाप बेगार करता था / और मैं मेहनताने में मिली जूठन को / इकट्ठा करता था, खाता था।[8]

देश आजादी की स्वर्ण जयंती मना चुका है। विकासशील देशों की श्रेणी में देश खड़ा है। सैकड़ों उपलव्धियाँ अव इनके पास हैं। पर दलित समाज की स्थिति आज भी वैसी ही है। उन्हें आजादी नहीं मिली। आजादी के लिए वे अभी भी जूझ रहे हैं – "आज / आजादी की आधी सदी के वाद भी / हम गुलाम हैं / पैदायशी गुलाम / जिनका धर्म चाकरी है / और बेअदवी पर / कँटीले डन्डे की चोट / थूथड़ पर खाना है या / भूखा मरना है।"[9]

दलित साहित्य-आन्दोलन द्वारा विद्रोह की भावना एवं स्वतंत्र चेतना का विस्फोट साहित्यिक, राजनीतिक, वैचारिक स्तर पर हुआ है। इस साहित्य पर अम्वेडकर और कांसीराम का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सदियों से शोषित, पीड़ित और दमित दलित समाज अपने सत्य को जान चुका है। उस यथार्थ से मुक्ति पाने के लिए मानसिक रूप से सक्रिय हो गया है जिसे साहित्यिक भाषा में 'जागरण काल' कहा जाता है। विमल थोरात का मानना है "दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है, जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विद्रोह नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह है एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।"[10] समकालीन कवि दिलीप कठेरिया लिखते है – अंवेडकर, फुले, कवीर को पढ़कर / ज्ञान की नई परंपरा वनायेंगे / हम मुट्ठी में थाम लायेंगे / हम थोड़े नहीं बहुत ज्यादा हैं / एक

दिन इकट्ठा हो जाएंगे"[11]

संस्कृति इतिहास राजनीति आदि इनके लिए मिथ्या हैं। ये इस समाज को खोखला ही करते रहे। आजादी और नई सरकार से इस देश को बड़ी उम्मीद थी लेकिन इनसे भी इन्हें निराशा ही मिली। इनके वोटों से सरकार बनती है पर सरकार दलितों के लिए शोषकों का जत्था है। जो इनका इस्तेमाल सिर्फ वोट बैंक के रूप में करती है। समकालीन कवि ओम प्रकाश वाल्मीकि कहते हैं – "यदि तुम्हें, / वोट डालने से रोका जाये / कर दिया जाये लहूलुहान / पीट-पीटकर लोकतंत्र के नाम पर / कदम-कदम पर / याद दिलाया जाये जाति का ओछापन / दुर्गन्ध भरा हो जीवन / हाथ में पड़ गये हो छाले / फिर भी कहा जाये / खोदो नदी नाले / तब तुम क्या करोगे?"[12]

दलित समाज की सबसे बड़ी विशेषता सहजता और सरलता है और इसी कारण वह छला गया है। सर्वविदित है कि आजादी की लड़ाई पूरे देशवासी मिलकर लड़े थे। अंग्रेजों के शोषण से आजादी सब को चाहिए थी। इसलिए नवजागरण आया था और अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध किया गया था किन्तु आजादी सिर्फ कुलीनों को मिली। गरीब, दलित, आदिवासियों को नहीं। कवि नवेन्दु महर्षि के शबदों में 'अंग्रेज जिस समय आजादी' कविता में कहते हैं–"तुम्हारे सिवाय / शेष दलितों के लिए / आजादी एक गाली है / इस लोकतंत्र का / चरित्र बदलना होगा / क्योंकि यह लोकतंत्र जाली है।"[13]

अर्थहीन व्यक्ति की सहजता और सरलता उसकी वेबकूफी का पर्याय माना जाता है। इनकी गरीबी को इनकी संस्कारहीनता का प्रतीक माना जाता है। 'मेरे पुरखे' कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं – "तन पर कपड़े नहीं / पेट पर अन्न नहीं / जन्म इतने फिर भी / वे हँसते थे / तुम्हें हँसता देखकर / वे नहीं जानते थे / कवायद करना / लूटना- / निर्बल और असहाय को![14]

सदियों से शोषित दलित वर्ग अपनी वर्तमान स्थिति के लिए प्रश्न उठाता है। समकालीन कवि यशवंत लोकनाथ कहते हैं – "तुमने हमारे सीधेपन का / जो चाहा वैसा फायदा लिया / देखते-देखते ऊँचे होकर तुमने / आकाश छू लिया / खा-खा कर हमारा श्रम तुम्हारे पाँव भारी होते गये / बड़े होने के बारे में तुम्हारे / हमें कुछ नहीं कहना / सिर्फ इतना भर बताओ / हमारा हश्र क्या हुआ ?"[15]

महात्मा गांधी और भीम राव अम्बेडकर की अहम भूमिका राष्ट्र निर्माण में रही है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय गांधी ने ऐलान किया कि गाँव की ओर चलो किन्तु अम्बेडकर ने कहा शहर की ओर चलो क्योंकि गाँव दलितों के शोषण का अखाड़ा है। शहरों के निर्माण के साथ दलित भी रोजगार की तलाश में शहर आए।

शहर में बाजारवादी व्यवस्था ने जातिगत भेदभाव कम किया है ऐसा आभास होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि बाजार को ग्राहक चाहिए इसलिए वह उपभोक्ता पैदा करता है और इसके लिए वह सभी प्रकार के भेदभाव खत्म करने का जाल सजाता है किन्तु जातिगत

भेदभाव खत्म नहीं हुआ है। बाजार दलितों के श्रम का शोषण करता है इसलिए तो पूंजीपति अरबपति से खरबपति बन रहे हैं। समकालीन युवा कवि मुकेश मानस के अनुसार– 'मनुवादी' कविता में कहते हैं – अब वह सीधे-सीधे नहीं पूछता / मुझ से मेरी जाति / मगर कभी न कभी / किसी न किसी संदर्भ में / जान ही लेता है मेरी जाति / फिर बदल जाती है उसकी दृष्टि।"[16]

जनसंचार के माध्यम दलितों की मुक्ति के अहम साधन हो सकते थे। अगर वह अपने दायित्वों को सही सही निभाता। किन्तु मीडिया अब बाजार के एजेंटों और पूँजीपतियों के इशारे पर नाचने वाला कठपुतली है। जबकि यह लोकतंत्र के चौथे स्तंभ होने का दावा करता है। समकालीन कवि सुरेशचंद की कविता 'मीडिया' इसकी सत्यता को उजागर करती है। जो इस प्रकार है – हमारे संघर्षों की दास्तान को / डाल दिया जाता है किसी कचारे के ढेर में / और बार-बार दफन करने की / कोशिशें की जाती हैं- / हमारी स्वतंत्रता की आवाज को। / यह कैसा मीडिया है / लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ? / या पूँजीवाद का आधार स्तम्भ।"[17]

दलित समाज में स्त्रियों की स्थिति सबसे अधिक दयनीय है। वह घर और बाहर दोनों जगह शोषण का शिकार होती है। इसकी संवेदनाओं पर विचार करना अभी बाकी है। कुछ दलित महिला साहित्यकार उभर कर आ रही है जो दलित महिलाओं की समस्या को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित करती है। कवयित्री रजनी तिलक के शब्दों 'औरत-औरत में अंतर है' कविता में कहती हैं – औरत औरत होती है, / उसका न कोई धर्म / न कोई जात होती है, / वह सुबह से शाम खटती है, / घर में मर्द से पिटती है / सड़क पर शोहदों से छिड़ती है।[18]

भारतीय समाज में धार्मिक संस्कारों का निर्वाह स्त्रियों के माध्यम से किया जाता है। तीर्थ, व्रत, उपवास वह पुरुष समाज के लिए करती है। इसके बावजूद इन्हें सभी प्रकार के अधिकार से वंचित रखा जाता है। दलित महिला इस भम जाल से निकल कर एक नया समाज के निर्माण की बात करती है। "तू पढ़ महाभारत/ न बन कुन्ती न द्रौपदी / पढ़ समाज शास्त्र, बन जाविश्री / फहरा शिक्षा का परचम।"[19]

दलित काव्य रचना हो या अन्य रचना, पर शिल्प विधान संबंधी आरोप-प्रत्यारोप लगते रहे हैं। कह सकते हैं कि विशेष रूप से गुणवत्ता, भाषा, शिल्प के आधार पर दलित साहित्य को खारिज भी करने का प्रयास किया जा रहा है। कह सकते हैं कि 'जुही की कली' के जैसा आरोप। अर्थात भाव अच्छे हैं, पर भाषा नहीं' महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार। इस प्रश्न पर विचार करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं- "अक्सर यह प्रश्न भी उठता है कि दलित रचनाएं गुणवत्ता की दृष्टि से कमजोर हैं। आखिर यह गुणवत्ता है क्या। और हमेशा इस गुणवत्ता का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन किया गया है? छन्द इस गुणवत्ता का अनिवार्य तत्त्व था पर आधुनिक कविता ने इसे छोड़ दिया। जिस अलंकार निर्भरता ने रीति साहित्य की गुणात्मकता के मानक स्थापित किए थे, अलंकारधर्मिता को वर्त्तमान साहित्य में कहाँ देखा जाएगा? इस सदी के शुरू में खड़ी बोली की कविता के लिए घोर अनुपयुक्त माना जाता था पर आज कविता खड़ी-बोली में ही लिखी जाती है।[20]

अतः कह सकते हैं कि कविता भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। यह अभिव्यक्ति कवि के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। समकालीन दलित कविता में प्रतिरोध का स्वर बहुत अधिक है। मूलतः यह प्रतिरोध कई सौ वर्षों की उपज है। यह सत्य है कि पूर्व के शोषण दमन का जितना भय नहीं है, उससे अधिक वर्त्तमान और भविष्य का भय है। वास्तविकता यह है कि इस कविता में जितना भय, प्रतिरोध या घृणा नहीं है, उससे अधिक जीवन के प्रति जीने का आकर्षण, मोह और जिजीविषा है। इस जिजीविषा में एक शक्ति है। यह शक्ति दलित कविता में प्रतिरोध स्वर है।

संदर्भ-सूची :

1. दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कँवल भारती, साहित्य उपक्रम, पृ. 13
2. वही, पृ. 13
3. वही, पृ. 16
4. दलित साहित्य विशेषांक (उत्तर प्रदेश), सितंबर-अक्टूबर, 2002, पृ. 155
5. वही, पृ. 155
6. दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, साहित्य उपक्रम, पृ. 56
7. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 58
8. दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, साहित्य उपक्रम, पृ. 39
9. वही, पृ. 40
10. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 65
11. दलित साहित्य (वार्षिकी) 2007-2008, सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. 126
12. दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, साहित्य उपक्रम, पृ. 62
13. वही, पृ. 159
14. वही, पृ. 65-66
15. दलित साहित्य विशेषांक (उत्तर प्रदेश), सितंबर-अक्टूबर, 2002, पृ. 156
16. दलित साहित्य विशेषांक (उत्तर प्रदेश), सितंबर-अक्टूबर, 2002, पृ. 155
17. दलित साहित्य (वार्षिकी 2007-2008), सं. जयप्रकाशन कर्दम, पृ. 129
18. दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, साहित्य उपक्रम, पृ. 144
19. वही, पृ. 146
20. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 81

समकालीन आदिवासी कविता : संभावनाएँ और चुनौतियाँ

—मेरी हाँसदा

समकालीनता का अर्थ केवल तत्कालीनता से करने से उसके अर्थ को संकुचित करना है। तत्कालीनता के साथ उसका पूर्वकाल भी जुड़ा होता है या तत्कालीनता का परिदृश्य अपने पूर्वकाल पर ही आधारित होता है और रचनाकार समकालीनता के आधार पर ही भविष्य के लिए सजग करता है। अतः समकालीन शब्द अपने आप में बहुत विस्तृत है। समकालीनता के साथ पूर्वकाल और भविष्य भी जुड़ा हुआ है। समकालीन कवि या साहित्यकार वही होता है जो तत्कालीन परिदृश्य को अच्छी तरह समझता हो उसे ईमानदारी और साहस के साथ परिभाषित कर सकता हो। वह प्रवाह में बह नहीं जाता हो बल्कि प्रवाह के विरुद्ध सतर्क हो। यही सतर्कता ही समकालीनता है। समकालीनता की व्याख्या राजेश जोशी ने इस प्रकार की है "अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए उसमें हस्तक्षेप करते हुए हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है।[1] समकालीन आदिवासी कविता की जब बात आती है तो यह कहना न होगा कि आदिवासी जनजीवन पर आधारित कविताएँ आदिवासी कविता कहलाती है। आदिवासी जनजीवन में समकालीनता रची बसी हुई है। जिस प्रवाह में वर्तमान भौतिकवादी मानव जीवन बह रहा है आदिवासी-जीवन उसके प्रतिकूल है। इसी प्रतिकूलता को बचाए रखना उसकी चुनौती है। बहुत हद तक इसे ही उसके पिछड़ेपन का कारण भी बताया जाता है। वास्तव में विकास की जिस परिभाषा को हमने ईजाद किया है उसका आधार आर्थिक विकास है, नैतिक आदर्श का विकास नहीं। इसलिए नैतिक रूप से विकसित होने के बावजूद अगर कोई समुदाय आर्थिक रूप से अतिरिक्त संचय न करने की वजह से विपन्न है तो उसे अविकसित मान लिया जाता है। आदिवासी जनजीवन के साथ भी यही नीति लागू की जाती है। सांस्कृतिक मूल्य और नैतिक आदर्श उस समाज के काफी विकसित हैं किन्तु आर्थिक दृष्टि से विपन्न हैं। यही विपन्नता उनके पिछड़ेपन का कारण मान लिया गया है। वर्तमान जीवन धारा की यही बड़ी कमजोरी है। अबकी बार अगर नवजागरण आएगा तो इसी परिभाषा को बदला जाएगा। आदिवासी कविता में विकास के इसी मानदण्ड का विरोध किया गया है। कवयित्री

निर्मला पुतुल कहती हैं- भूमण्डलीकरण ने विकास के जिस मॉडल का निर्माण किया है उससे अमीर और गरीब के बीच की खाई और अधिक बढ़ गई है। विकास के नाम पर अनेक परियोजनाएँ चलायी जाती है, ऑफिसर्स कॉलोनियाँ बनाया जाता है और गरीब आदिवासियों को कुछ मुआवजा देकर हटा दिया जाता है। किन्तु मुआवजा या पुनर्वास काफी नहीं होता है। मुआवजा को संजोकर रखने की कला में आदिवासी निपुण नहीं हैं। क्योंकि संचय करने की प्रवृति इनमें नहीं होती। मुआवजा भी उन्हें बहुत अधिक नहीं मिलता। परिणामस्वरूप वे कुछ ही दिनों में पूरी रकम खर्च कर देते हैं और झुग्गी झोपड़ियों में रहने के लिए मजबूर हो जाते हैं। और रोजगार के नाम पर मजदूरी करने लगते हैं। यह सिर्फ उनका विस्थापन नहीं। बल्कि धीरे-धीरे उनकी भाषा, बोली नैतिक आदर्श जीवन दर्शन और पूरी की पूरी एक संस्कृति का नष्ट होना है। क्योंकि भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिए समूह और अवकाश की आवश्यकता होती है। और यह सर्वविदित है कि मजदूरों को अवकाश कितना मिलता है – "समझना पड़ेगा / कि मेरे गाँव को मुख्य मार्ग से जोड़ने के लिए / सड़क बनाना चाहते हो तुम / या मेरे गाँव तक पहुँचने के लिए / हमें बाजार उपलब्ध कराना है / या बाजार को हम तक पहुंचने का देना है रास्ता / हमीं से हमारा पत्थर तोड़वाकर / शहर ले जाने का इरादा है तुम्हारा / ठीक-ठीक समझना पड़ेगा हमें / संशय में हूँ कि तुम सचमुच हमारा विकास चाहते हो।"[2]

वास्तव में आदिवासियों के लिए प्रकृति की हर वस्तु जीवन का प्रतीक है क्योंकि प्रकृति की हर चीजों का प्रयोग वे जीवन के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए पत्थर को ही ले सकते हैं। आदिवासी मृत शरीर को दफनाते समय उसके सिरहाने पत्थर गाड़ते हैं जिसे ससन दिरी (मुण्डा) तोपा धिरी (संताल) आदि कहते हैं। आदिवासी अपनी जमीन पर ही अपने प्रियजन को दफनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि ससन दिरी प्रमाण बन जाता है कि अमुक जमीन किसकी है। आदिवासी जमीन का पट्टा नहीं बनाते जो सरकारी दफ्तर में रिकॉर्ड रखता है। किन्तु ये पत्थर पट्टा से कम नहीं होता। इन पत्थरों को उखाड़कर जब बाजार में बेचा जाता है तो साथ में आदिवासियों का जीवन और इतिहास भी बाजार में व्यापार की वस्तु बन जाती है। 'ससन दिरी' कविता में युवा कवि अनुज लुगुन आदिवासियों की सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखना चाहते हैं। वे कहते हैं - "इन मृत पत्थरों पर जीवित है / हमारी सैकड़ो पुश्तों की विरासत / धरती को बचाने की / फेहरिस्त में की गई न्यायपूर्ण हस्तक्षेप है उनकी / उन्हीं हस्तक्षेपों के साथ जीवित है / साखू के पेड़ के नीचे सैकड़ों पत्थर / जो हमें मरने नहीं देते।"[3]

आदिवासियों की जमीन से खनिज संपाद का दोहन कर बाजार और जगमागाती दुनिया का निर्माण हो रहा है। आदिवासी जीवन और बाजार की जगमगाती जिन्दगी में दूरियाँ बहुत हैं पर एक बात कॉमन है दोनों जगह जीवन तबाह हो रहा है। इसका मूल कारण बाजार का फैलता हुआ जाल है वर्तमान शहरी जीवन पर बाजार हावी रहता है जिसका करण शहर की भीड़ में भी लोग अजनबी होते हैं। लोग संवेदना शून्य बनते हैं। अपराध और आत्महत्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं। सीमित आवश्यकताओं में संतोष पूर्ण जीवन व्यतीत करना गाँव की विशेषता

है। उनका जीवन मूलतः खेती पर आधारित होता है पर पूँजीपति उनसे यह जमीन भी छिन रहे हैं। जीवन का आधार ही जब खतरे में पड़ जाए तो जीवन-संघर्ष कठिन हो जाता है। शहर और गाँव के अंतर को चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने 1914 ई. में 'बुद्धू का काँटा' कहानी में इस प्रकार चित्रित किया है "गाँव की लड़कियाँ हड्डियों और गहनों का बंडल नहीं होती। यहाँ ये दौड़ती हैं, कूदती होती। हँसती हैं, गाती हैं, खाती हैं और पचाती हैं। नगरों में आकर ये खूंटे से बंधकर कुम्हलाती हैं, पीली पड़ जाती हैं, भूखी रहती हैं सोती हैं, रोती हैं और मर जाती हैं।"[4] कहानीकार ने यहाँ सिर्फ स्त्रियों को आधार बनाया है किन्तु सभी शहरी मनुष्य पर यह लागू होता है। इसलिए समकालीन कवि बाजार का विरोध और गाँवों की रक्षा करना चाहते हैं। अनुज लुगुन कहते हैं – "देश के नाम पर / केवल झण्डे का रंग पहचानने वाले /शहर के ये मुट्ठी भर लोग / हमारे गाँवों को रौंद कर / हमसे ही देशभक्ति की माँग करते हैं। / शहर में बैठे गाँव वालों / अपनी पगडंडियों को बचाने के लिए / हो जाओ खेतों, मेडों / और जंगलों के साथ /घेर लो शहर को चारों ओर गाँवों से / गाँवों में अब भी बची है / दो गज जमीन / पलाश के बीज बोने के लिए।"[4]

आदिवासी इलाकों में हो रहे विकास कार्यों के कारण बाहरी संस्कृति का घुसपैठ आदिवासी समाज और संस्कृति में होता है। आदिवासी समाज चूँकि अधिक स्वतंत्र और स्वच्छंद है इसलिए संक्रमण की संभावना सहज हो जाती है। जो उनके समाज की पवित्रता को नष्ट कर देता है। दूसरी ओर आदिवासी भूमिहीन हो जाते हैं। परिणामस्वरूप रोजगार की तलाश में वे शहर की ओर विस्थापित होते हैं। शहर में अपनी संस्कृति को बचाए रखना कठिन कार्य है। इस प्रकार आदिवासी समाज में दोहरी सांस्कृतिक समस्या है। समाज के विरोधी तत्वों को रोकने के लिए गेस कुजूर संगियों को आह्वान करती है– "हे संगी क्यों घूमते हो / झुलाते हुए खाली गुलेल / क्या तुम्हें अपनी धरती की / सेंधमारी सुनायी नहीं दे रही ....।[5]

पूँजीवाद ने छोटे-छोटे गृह उद्योगों को निगल दिया है। कैकटस की तरह नित नए-नए पनपते हुए उद्योगों को हम विकास के नाम से संबोधित करते हैं। क्या हमने कभी गौर किया है कि छोटे उद्योगों को निगलने वाली पूँजीपतियों की फैक्ट्री ही भूमि, जल और वायु प्रदूषण फैलाने में अग्रणी है? दूसरी ओर अधिक मुनाफा कमाने के क्रम में विभिन्न तरह के हानिकारक रासायनिक पदार्थ की मिलावट लाइलाज बीमारियों को बढ़ा रहा है। कुल मिलाकर पूंजीवादी व्यवस्था पूरी मानतीवता के अस्तित्व के लिए खतरे का संकेत है। ऐसे में देशज तकनीक बहुत सारी समस्याओं का समाधान कर सकती है। वंदना टेटे की छटपटाहट उसी देशज तकनीक को बचाने की है। कवयित्री कहती हैं– "सच में / मैं चिंतित और उदास हूँ / कि नहीं जान पाएँगे मेरे बच्चे / डोरी, कुसुम से तेल निकालने की / मछली और चिड़िया पकड़ने की / देशज तकनीक / महुआ लट्ठा, इमली के बीज के साथ / औटाया गया खाने का स्वाद।"[6]

जीवन जीने के देशी तकनीक श्रम साध्य होते हैं किन्तु आदिवासी श्रम करने से नहीं घबराते। 'माँ' कविता में निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री के बहाने आदिवासी समाज की जीवन-

शैली को प्रस्तुत करती है। कवयित्री कहती हैं –"अहले सुबह जागकर / धान सिझाती माँ / महकते धान की खुशबू से / भर देती है मेरे अधा जागे सुबह को / दर्ज कराती अपनी जागने की उपस्थिति।"[7]

अन्याय के खिलाफ जब भी कोई स्वर उठता है उसे दबाने का प्रयास किया जाता है। अनेक सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं जो आदिवासियों के बीच जंगलों में रहकर उनके उत्थान का कार्य करते हैं जिसके परिणामस्वरूप क्रॉसफायर, जागो आदिवासी जागो आदि यथार्थ घटनाओं पर आधारित पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आदिवासियों की दशा को बदतर बनाने में पुलिस प्रशासन का भी योगदान है। आदिवासी से संबंधित अनेक समस्याएं और आंदोलन या तो खबर ही नहीं बन पाती हैं या बनते भी हैं तो राष्ट्र स्तर की नहीं बन पाती क्योंकि उन्हें बनने ही नहीं दिया जाता है। इसके पीछे कारण यह है कि आदिवासियों की जमीन में ही खनिज संपदा सुरक्षित है जिसे सरकारी और गैर सरकारी एजेंसियाँ हड़पने का प्रयास करती है। पद और प्रतिष्ठा के बल पर आदिवासियों के विद्रोह को गलत करार दे दिया जाता है। इसी पृष्ठभूमि को आधार बनाकर निर्मला पुतुल कहती हैं – "साम्राज्यवाद के दूतों / मत भूलो कि ऐसी कई आवाजें हैं / जो आज भी उठ रही हैं तुम्हारे खिलाफ / तुम कितनी आवाजों को बंद करोगे? / जितनी आवाज उतनी गर्दनें हैं / फाँसी के लिए रस्सियाँ भी कम पड़ जाएँगी / एक दिन तुम्हारे पास।"[8]

छत्तीसगढ़ की सामाजिक कार्यकर्ता सोनी सूरी आदिवासियों की समस्याओं के विरुद्ध लगातार विद्रोह कर रही है। जिस कारण शारीरिक और मानसिक शोषण हुआ। उनके चेहरे पर तेजाव जैसे ज्वलनशील पदार्थ लगा दिया गया है। कवयित्री वंदना टेटे कहती हैं – तुम्हारा चेहरा / जामून हो गया है सोनी / इसकी मिठास अब और बढ़ गयी है / इसका अर्क / असाध्य रोगों की अचूक दवा है / नहीं जानते हैं वे / जिन्होंने बना दिया है तुमको जामुन / तुम मत सोचना सोनी / चेहरा खराव हो गया है तुम्हारा / उस समाज की बेटी हो तुम / जिसमें कोई चेहरा वदसूरत नहीं होता।

वैश्वीकरण के दौर में बाजार का ग्राहक पैदा करने के लिए सौंदर्य एक अस्त्र का काम करता है। जिसके लिए माध्यम स्त्रियों को ही बनाया जाता है। यूँ तो स्त्रियों पर तेजाब फेंकने की बात नयी नहीं है। एक ओर विभिन्न जनसंचार माध्यमों के द्वारा स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन दिखाना और दूसरी ओर उन पर तेजाव फेंकना योजना के तहत मानसिक और शारीरिक यंत्रण। देना है। लेकिन आदिवासियों में किसी मनुष्य का चेहरा कुरूप नहीं होता क्योंकि शारीरिक सुन्दरता उनके समाज का अभिजात्य होने का मापदण्ड नहीं होता। यही कारण है कि सोनी सुरी का नाम सम्मान से लिया जाता है।

भूमंडलीकरण के समय में अस्तित्व का संकट एक बड़ी समस्या बनकर आयी है। जिसे हम बोली भाषा, संस्कृति आदि के संकट के रूप में भी देख सकते हैं। वैसे तो आदिवासी सदियों से ही पहचान के संकट को झेलते आए हैं। आर्यों ने कभी अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने

के लिए आदिवासियों को जंगली, असभ्य, असुर आदि कहा था। वर्तमान समय में आदिवासियों को माओवादी, नक्सली आदि कहा जा रहा है और उनें माओवादी सिद्ध करने के लिए प्रशासन और पुलिस तमाम तरह के हथकंडे अपना रही है। सरकार ने जंगल सुरक्षा और माओवादी उन्मूलन के नाम पर आदिवासी इलाकों में सुरक्षा-कर्मी बहाल किया है किन्तु ये सुरक्षा कर्मी आदिवासी महिला का सामूहिक बलात्कार करते हैं उसे मार देते हैं और माओवादियों का ड्रेस पहनाकर हाथ में हथियार थमा कर प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि माओवादी गिरोह का सदस्य होने के कारण मार दिया गया। (13 जून 2016 छत्तीसगढ़ में हुई घटना, तहलका की रिपोर्ट) सवाल ये हैं कि जिनके वोट से सरकार चुनाव जीत कर सत्ता प्राप्त करती हैं उन्हीं के साथ ऐसा दुर्व्यवहार हम प्रजातंत्र में हैं या राजतंत्र में? हम गुलाम हैं या आजाद हैं? क्या यह वही भारत हैं ? जिसकी रक्षा में आदिवासी तब से बानी दे रहे हैं जब भारत के तथाकथित भद्र समाज अंग्रेजों का सम्मान सत्कार करने में व्यस्त था। अगर हम माओवादी समस्या पर गौर करें तो समझ से परे नहीं है कि पूँजीपति, महाजन और सरकार के स्वार्थ के कारण नक्सलो या माओवादी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। विनोद कुमार का उपन्यास 'रेड जोन' में इस समस्या की विस्तृत चर्चा हुई है। उपन्यासकार तथ्यों यह सिद्ध करता है कि वास्तव में आदिवासी माओवादी नहीं हैं बल्कि माओवादी के नाम पर प्रशासन और माओवादी दोनों तरफ से आदिवासी पीस रहे हैं जबकि प्रशासन भी अपने अधिकार को बचाने में और माओवादी अपने अस्तित्व की रक्षा करने में सफल है और दोनों सुरक्षित भी हैं। आदित्य कुमार मान्डी की कविता 'मुझे पहचानो' प्रशासन के वास्तविक चेहरा को बेनकाब करती हैं – "ऑपरेशन के दौरान / बलात्कार की शिकार। / इस स्थिति पर एक ने कहा / अरे भाई उन लड़कियों को यहाँ ला कर / माओवादी के कपड़े पहनाओ / और गोली मार दो। / रिपोर्टरों को बुलाकर / संवाद पत्रों को बता दो / माओवादी ऑपरेशन में / दस माओवादियों की मौत हो गयी / दो पुलिसकर्मी घायल हैं / सभी माओवादी आदिवासी थे।"[9]

अशोक सिंह की कविता 'नक्सली जंगल में रह रहे एक आदिवासी दम्पति की व्यथा कथा' में इसी प्रकार की समस्या की अभिव्यक्ति हुई है- "जंगल के अंदर पहरा है / जंगल के बाहर भी / कैसे अजीब हालात हैं / बंदूक के डर से / बंदूकों के साये में छुपे बैठे हैं हम सब। / कोई बंदूक का डर दिखा / थमा रहा है हमारे हाथों में बंदूक / कोई हमारे घरों में / बंदूक छिपे होने की बात करता / घसीट ले जा रहा है हमें।"[10]

झारखण्ड, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल आदि राज्य नक्सली और माओवादियों से आक्रांत है और योजनाबद्ध तरीके से आदिवासियों को माओवादी घोषित करने का प्रयास किया जाता है। आदित्य कुमार मान्डी इस यथार्थ से संसार की वाकिफ कराना चाहते हैं। वे कहते हैं- मैं माओवादी नहीं हूँ / तुम न भी मानो / लेकिन यह जमीन आसमान / पेड़ पौधे परिन्दे और धरती के/सभी इंसानों तक / जरूर यह आवाज पहुंचेगी / मैं मोआवादी नहीं हूँ।"[11]

आदिवासी साहित्यकार दुनिया में चल रही पद की लड़ाई को भी कलमबद्ध किए हैं। देश

की नीति भी अजीब है जिसके हाथों में शासन आता है नीति को अपने अनुकूल मोड़ लेता है और इस कारण कोई भी अपराधी कानून की दृष्टि से आसानी से बच निकलता है और तमाम तरह की सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसलिए शासन या कुर्सी की लड़ाई देश में चलती रहती है और इसे ही हम प्रजातंत्र कहते हैं। इस तंत्र ने आदिवासियों की स्थिति को और अधिक बिगाड़ा है और कुर्सी के लिए आदिवासियों की ऊर्जा से खेला है। कवयित्री निर्मला पुतुल कहती हैं - "कुर्सियाँ होती हैं बहुत महत्वपूर्ण / कुर्सियाँ है तभी देश चलता है और / तभी चलती है नेताओं की नेतागिरी / कुर्सियाँ ही तो है जिसके केन्द्र में घूमती है / देश की राजनीति और उसके प्रभाव से / गिरता-उतरता है देश का तापमान।"[12]

वास्तव में आदिवासी समाज सहयोगी, सहभागिता, सहअस्तित्व पर आधारित होता है। इस समाज में स्वशासन है किन्तु समाज का शासक सामाजिक लोगों को अपना दास नहीं समझता, स्वयं को श्रेष्ठ और समाज का मालिक नहीं समझता बल्कि वह भी वैसे ही परिश्रम करता है जैसे समाज के अन्य लोग करते हैं। समाज में उसका कोई विशेष अधिकार भी नहीं होता। इसके विपरीत देश का शासक सुविधाओं और अधिकारों से लैस होता है। ऐसी जगह पाने का लालच मनुष्य मात्र में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। और जगह पर या कुर्सी में पहुँचने के बाद अधिक से अधिक धन जुटाना व्यक्ति का उद्देश्य बन जाता है। क्योंकि कुर्सी सीमित समय के लिए होती है।

वर्तमान राजनीतिक स्थिति तो यह है कि एक राजनीतिक दल कुर्सी पाते ही दूसरे राजनीतिक दल की असलियत को सामने कर देता है। अमीर और गरीबों के बीच बढ़ती हुई खाई का प्रमुख कारण कुर्सी का लालच ही है। ऐसे ही लोगों की ओर इशारा करते हुए कवयित्री कहती हैं- "ये वे लोग हैं / जो हमारे ही नाम पर लेकर गटक जाते हैं / हमारे ही हिस्से का समुद्र।"[13]

राजनीतिज्ञ हो या पूँजीपति अथवा जिंदल, मितल हो या टाटा, बिड़ला प्रकृति के संसाधनों का दोहन करके ही ऊर्जा और आमदनी प्राप्त करते हैं किन्तु आदिवासियों के हिस्से में कुछ नहीं बचता। वास्तव में प्राणी मात्र की जिन्दगी प्रकृति में रची बसी हुई है। प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ और प्रकृति का अतिरिक्त दोहन सिर्फ आदिवासियों के लिए ही नहीं बल्कि जीव-जगत के लिए भी खतरा बन जाता है। अतः पर्यावरण की रक्षा करना इनकी कविताओं का मुख्य स्वर है और वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता भी यही है। चेतावनी के स्वर में ग्रेस कुजूर कहती हैं– इसलिए फिर कहती हूँ / न छेड़ो प्रकृति को / अन्यथा यह प्रकृति करेगी भयंकर बगावत/ और तब न तो तुम होंगे न हम होंगे। /

अतः विश्व कल्याण ही आदिवासी कविता का मुख्य उद्देश्य है- आओ दुनिया को रोपें / उसे बार-बार उगायें / फटकें और साफ करें / फिर बांट दें सबको / ताकि सबके हिस्से में / बची रहे दुनिया ज्यों की त्यों।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता रचाव-बसाव की कविता हैं। वास्तव

में आदिवासियों की सम्पूर्ण जीवन शैली ही रचाव-बसाव पर आधारित है। आदिवासी साहित्य उनके इस यथार्थ को प्रतिविम्बित करता है। भूमंडलीकरण के हथकण्डे आदिवाासियों को अपने गिरोह में लेने का प्रयास कर रहे हैं किन्तु जब उनको अपने गिरोह में नहीं ले सका तो उनके अस्तित्व पर सीधा प्रहार करने लगे। आदिवासी प्रकृति के जुड़े होने के कारण आदिवासियों की समस्या बढ़ने के साथ प्रकृति संबंधित समस्या भी बढ़ने लगी, जिसका प्रभाव प्राणी के जीवन पर पड़ने लगा है। आदिवासी कविता जीवन को बचाने की कविता है।

संदर्भ-सूची

1. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 2005, पृ. 32
2. बेघर सपने, निर्मला पुतुल, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण- 2014, पृ. 40
3. जनपथ-अगस्त 2013, पृ. 81
4. वही, पृ. 81
5. कोनजोगा-वंदना टेटे, प्यारा केरकेट्ठा फाउण्डेशन, राँची, प्रथम संस्करण- 2015, पृ. 12
6. बेघर सपने, निर्मला पुतुल, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण- 2014
7. वही, पृ. 55
8. आदिवासी साहित्य जुलाई-सितंबर-2015, पृ. 31
9. कथा क्रम-अक्टूबर - दिसम्बर- 2011, पृ. 193
10. आदिवासी साहित्य जुलाई-सितंबर- 2015, पृ. 31
11. बेघर सपने, निर्मला पुतुल, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण- 2014, पृ. 28
12. आदिवासी पत्रिका-अक्टूबर- 2015, मार्च 2016, पृ. 33

हाशिए से बेदखली के विरोध में नगाड़े की तरह बजते शब्द

—अल्पना नायक

विगत 20-25 वर्षों में समकालीन कविता में तीन-चार हाशिए के विमर्श उभरे हैं, उनमें से एकमात्र आदिवासी विमर्श से ही नव-उपनिवेश की सीधी टक्कर है। स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श के ज्यादा चेहरे भूमंडलीकरण और नव-उपनिवेशवाद पर मौन हैं। परन्तु जिस उभार के साथ दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के मुद्दे पिछले दो तीन दशकों के दौरान राष्ट्र के मुख्य विमर्श में शामिल हुए उस तरह से आदिवासी कहे जाने वाले मानव समुदायों की समस्याओं पर न कोई विशेष चर्चा हुई और नहीं वे कभी राजनीति के केन्द्र में सक्रियता से आ सके, जबकि इनकी स्थिति आज सबसे ज्यादा दयनीय हैं। देश की भूमि के सबसे पुराने मूल निवासी कहलाने वाले इस समुदाय के लोग आज सबसे ज्यादा शक्तिहीन, भूमिहीन, बेघर, वंचित, दलित और गरीब हैं। समय कोई भी रहा हो सामन्तवाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, उत्तर उपनिवेशवाद या नव-उपनिवेशवाद, कथित सभ्य समाज ने हमेशा से इसके साथ परायों जैसा व्यवहार किया। 'नस्ली पराएपन' की मार को यह जाति हमेशा से झेलती आई है। उनकी सादगी और भोलेपन का फायदा उठाकर सबने इनके श्रम का शोषण किया। इस सभ्य समाज के विकास की प्रक्रिया में ये खदेड़े जाते रहे और हाशिए पर ढकेल दिए गए। परन्तु वर्तमान समय तो इनके लिए और क्रूर है क्योंकि नव-उपनिवेशवाद के प्रचार-तंत्र के रूप में काम कर रहा 'भूमंडलीकरण' तो इन्हें हाशिए से भी बेदखल करने की कोशिश कर रहा है। वे लगातार जल, जंगल, जमीन से बेदखल किए जा रहे हैं। ऐसे समय में निर्मला पुतुल संथाली से हिन्दी में अनूदित अपना-पहला काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' लेकर आती है जो मौजूदा हालात में एक सार्थक हस्तक्षेप है।

भारतीय वाङ्मय आरम्भ से ही प्रतिरोध की एक लम्बी परम्परा रही है। समकालीन हिन्दी कविता में प्रतिरोध की वही प्रखर चेतना और अस्वीकार का वैसा ही साहस हमें युवा कवयित्री निर्मला-पुतुल में मिलता है। 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में उनके शब्द से निकले प्रतिरोध के स्वर को अनसुना नहीं किया जा सकता। ये शब्द न केवल जीवन विरोधी ताकतों के

प्रति आग्रह करते हैं जबकि संथाली समाज की जातीय-अस्मिता को रौंदने वाली रुतता के विरुद्ध प्रतिपक्ष की सुदृढ़ जमीन भी तैयार करते हैं और युद्ध की तैयारी की सूचना भी देते हैं। यह संग्रह नव-औपनिवेशिक ताकत और भूमंडलीकरण का दलाल बन चुके राष्ट्र राज्य की मिलीभगत से आदिवासियों के होने वाले शोषण का प्रामाणिक दस्तावेज है जो झारखंड के आदिवासी समुदाय के औपनिवेशिक और नव पूँजीवादी शक्तियों के द्वारा - विनष्ट कर दिये जाने की भयानक और त्रासद स्थितियों को खोलता है।

'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में स्त्री विमर्श की कुछ कविताओं के अलावा उपेक्षितों का ही आख्यान रचा गया है। कविता में संथाली सभ्यता और संस्कार से अवेष्टित एक संसार उभर कर आया है। ये कविता एक ओर अपने परिवेश का समग्र साक्षात्कार कराती हैं तो दूसरी ओर वहाँ के लोग बाग की संघर्षशील जिन्दगी, व्यवस्था के भयावह शोषण और उसके साथ जनजीवन की कठिन मुठभेड़ उनकी कविता को गहरी ऊर्जा देती है। कवयित्री कविता में सिर्फ दुःख, करुणा और बेचारगी का चित्रण मात्र करके संतुष्ट नहीं हो जातीं, बल्कि इसके खिलाफ तीखा आक्रोश भी व्यक्त करती हैं।

इस संग्रह की कविताओं में संथाली समाज के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पहलुओं को कवयित्री ने तटस्थता से सामने रखा है। स्वभाव से उत्सवधर्मी संथालों के जीवन में संगीत और नृत्य का अनुरंजनकारी मूल्य ही उनकी जिजीविषा को बनाए हुए हैं। परन्तु जो संथाली औपनिवेशिक सामंती शोषण और उत्पीड़न के सामने भी अडिग, अचल रहे, वही आज स्वतंत्र भारत में अपनी अस्मिता को बचाने में असमर्थ हैं। उनकी पूरी संस्कृति आज सर्वग्रासी वैश्विक सभ्यता में विलीन हो जाने की कगार पर खड़ी है। कविता में इस संकट की गूँज सर्वत्र बनी हुई है। कविता के कैनवास पर उभरी रंग और आकृतियाँ जहाँ संथालों की सादगी, भोलापन, प्रकृति से जुड़ाव और उनकी कर्मठता को दर्शाती है और आज की कृत्रिम दुनिया में नैसर्गिक मानवीय भाव-बोध से हमारा पुनर्परिचय कराती है, वहीं उनके आंतरिक और बाह्य परिवेश के परिवर्तन को भी उद्घाटित करती है। दिन भर का थका हारा शरीर जिस माँदल और डिग्गे की ताल पर नाच उठता था, वे भी अब उनकी दुनिया से दूर हो गए हैं। उनके माँदल, नगाड़े, बाँसुरी और तीर-धनुष को गाड़ी में लादकर संग्रहालयों में पहुँचा दिया गया है। कवयित्री को आशंका है कि नगाड़ा, माँदल आदि की तरह संथाली जीवन की सहजता और नैसर्गिकता भी कहीं स्मृति के संग्रहालय में ही टँग न जाएँ, क्योंकि आर्थिक साम्राज्यवाद अपने पूरे तामझाम सहित इनके अस्तित्व को दबोचने के लिए इनकी ओर बढ़ा चला आ रहा है – संथाल परगना / अब नहीं रह गया संथाल परगना। / बहुत कम बचे रह गए हैं / अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग / बाजार की तरफ भागते सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ / उखड़ गए हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़ / और कंक्रीट के पसरते जंगल में / खो गई है इसकी पहचान / कायापलट हो रही है इसकी / तीर-धनुष-माँदल-नगाड़ा-बाँसुरी / सब बटोर लिए जा रहे हैं लोक संग्रहालय / समय की मुर्दागाड़ी में लादकर। (पृष्ठ 26)

इन आदिवासियों का जीवन नदी, पहाड़ और जंगल पर आधारित हैं, पर भूमि अधिग्रहण नीति के तहत उनसे उनके जंगल, पहाड़ और नदियाँ छीन ली जा रही हैं। फलत: उन्हें अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। प्रकृति के विनाश और विस्थापन के कारण आदिवासी समाज आज संकट में है। ये लोग देश के आर्थिक विकास में अपना हिस्सा नहीं माँगते, अपने विकास की कोई परियोजना नहीं चाहते, चाहते सिर्फ इतना हैं कि उनके जंगल, पहाड़ और उनकी नदियाँ उनसे छीन न ली जाएँ क्योंकि वे ही उनके जीवनाधार हैं। इस जनजाति की आदिम सभ्यता, उनकी रीति-नीति तथा उनकी जीवन-शैली के साथ छेड़-छाड़ होते देख कवयित्री का आक्रोश फूट पड़ता है। आर्थिक अभाव के कारण स्त्री, पुरुष और बच्चे दलालों द्वारा लालच देकर शहर ले जाए जा रहे हैं। सपने के पीछे भागते इन भाई-बहनों की न जाने कितनी गाथाएँ निर्मला पुतुल कविता में कहती जाती है, जिनमें चुड़का सोरेन, ढेपचा के बाबू, मुर्मू, ललिता उराँव, तीपा मुर्मू, बुधनी जैसे लोग हैं, जो संथाल परगना एवं उसके जीवन की नई तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। 'चुड़का सोरेन से' कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। सांस्कृतिक शोषण, बाल शोषण और यौन शोषण के कितने ही चित्र आंकती है ये कविताएँ – पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं / उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चे का / बचपन चीत्कारता है / उन्हीं की गाड़ियों पर / तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग देखने / कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में उतरती है।[3]

मासूम, बेजुबान आदिवासी बालिकाओं को देह व्यापार में धकेलने वाले तथाकथित सभ्य समाज पर व्यंग्य करती हुई निर्मला पुतुल कहती हैं - मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में, / प्रिय है तो बस / मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने / जंगल के फूल, फल, लकड़ियाँ / खेतों में उगी सब्जियाँ / घर की मुर्गियाँ / उन्हें प्रिय हैं / मेरी गदराई देह / मेरा माँस प्रिय है उन्हें? (पृ. 73)

सभ्य समाज के लिए उनका अधखुला दैहिक सौंदर्य हमेशा से आकर्षण का केन्द्र रहा है। देश के विकास में भले ही उनका हिस्सा न हो, पर उनके श्रम से लेकर स्त्री देह तक, सब पर इस कथित सभ्य समाज का आधिपत्य है - "वे नहीं जानतीं कि / कैसे पहुँच जाती हैं उनकी चीजें दिल्ली / जबकि राजमार्ग तक पहुँचने से पहले ही / दम तोड़ देतीं उनकी दुनिया की पगडंडियाँ / नहीं जानती कि कैसे सूख जाती हैं / उनकी दुनिया तक आते-आते नदियाँ / तस्वीर कैसे पहुँच जाती हैं उनकी महानगर / नहीं जानतीं वे ! नहीं जानतीं ! !" (पृ. 11)

निर्मला पुतुल विकास के नाम पर संथाली आदिवासियों के व्यापक विस्थापन को मानवाधिकार के प्रति एक क्रूर कार्रवाई के रूप में देखती है। विकास के इस मॉडल तहत संथालों के जीवन से सम्बद्ध प्रकृति का भी अंधाधुंध दोहन हुआ है। पेड़ों की चीत्कार, पहाड़ का दहलता सीना, अँधेरे में मुँह ढाँप रोती नदियाँ और पत्थरों की चीख से रूबरू होती कविता - 'बूढ़ी पृथ्वी का दुःख' बयान करती हुई कभी भी शिकायत न करने वाली बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुःख-बतियाने को कहती है – थोड़ा-सा वक्त चुराकर बतियाया है कभी/ कभी शिकायत न करने वाली / गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुःख? / अगर नहीं, तो क्षमा करना! / मुझे तुम्हारे

आदमी होने पर संदेह है!!(पृ. 32)

उपरोक्त सारे प्रसंग सभ्यता के विकास और प्रगति का अमानवीय चेहरा उघाड़कर रख देते हैं तथा हमारे राष्ट्रीय विकास के चरित्र पर भी प्रश्न उठाते हैं। व्यवस्था और उसके तंत्र में कवयित्री का जरा भी विश्वास नहीं हैं, इसलिए वे अपने संथाली भाई-वहनों की जातीय और भाषायी चेतना को उद्‌बुद्ध करने का प्रयास करती हैं। तिलका माँझी, विरसा मुंडा तथा सिध-कान्हू के संघर्ष और कुर्बानी की याद दिलाकर 'भाई मंगल वेसरा' और 'चुड़का सोरेन से' कविता में कवयित्री अपने भाइयों और बहनों से संथालों की जगह-जमीन तथा वहू-वेटियों की इज्जत पर गिद्ध दृष्टि गड़ाए राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा विचौलियों के विरोध में खड़े हो जाने का आह्वान करती हैं – उठो कि अपने अँधेरे के खिलाफ उठो / उठो अपने पीछे चल रही साजिश के खिलाफ / उठो, कि तुम जहाँ हो वहाँ से उठो / जैसे तूफान से ववंडर उठता है / उठती है जैसे राख में दबी चिनगारी।(पृ. 14)

कवयित्री की निगाह आदिवासी समाज में व्याप्त कुरीतियों, शराव की ओर वढ़ता झुकाव, शिक्षित समाज के दिक्कुओं और व्यवसायियों के हाथों कठपुतली वनने जैसी स्थितियों पर भी गई है, क्योंकि चारित्रिक शुचिता और वैचारिक दृढ़ता के विना वाहरी ताकत का सामना किसी भी तरह नहीं किया जा सकता – "तुम्हारे पिता ने कितनी शराव पी यह तो मैं नहीं जानती / पर शराब उसे पी गई यह जानता है सारा गाँव / इससे बचो चुड़का सोरेन! / वचाओ इसमें डूबने से अपनी बस्तियों को / देखो तुम्हारे ही आँगन में बैठ / तुम्हारे हाथों वना हड़िया तुम्हें पिला-पिलाकर / कोई कर रहा है तुम्हारी बहनों से ठिठोली"(पृ. 19)

कविता से गुजरते हुए यह महसूस होता है कि निर्मला पुतुल के कथन में गजव की आग है। यह आग क्षणिक भावावेश से उत्पन्न नहीं हो सकती बल्कि यह भाव सघनता से जगी है। कवयित्री का सर्जक चितेरा जीवन धारा के किनारे खड़े होकर उस जीवन के चित्र नहीं उतरता बल्कि खुद भी उस धारा के साथ बहता है। वे स्वयं उस जीवन-संघर्ष की सक्रिय भोक्ता हैं, इसलिए उनकी अनुभूतियाँ न तो आरोपित लगती हैं न आयातित बल्कि प्रतिबद्ध मानवीय पक्षधरता से प्रेरित हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय लेखन में प्रतिबद्धता को लेकर काफी बहसें हुई हैं, जिसके तहत प्रतिबद्धता का फैशन की तरह प्रयोग किया गया है। प्रतिबद्धता की झोंक में इसलिए कविताएँ नकली कवियों की चीत्कार और विलाप-साबित हुई हैं। सच्चाई यह है कि प्रतिबद्धता विचार और साहित्य की दुनिया में सिर्फ लिखा हुआ एक शब्द भर नहीं हैं बल्कि एक सजीव कर्म है। निर्मला पुतुल ने इस प्रतिबद्धता को अपनी कविता और जीवन में एक कर्म की तरह प्रयुक्त किया है। इसी प्रतिबद्धता के कारण वे स्वयं संघर्षरत मानव के साथ संघर्ष के लिए तैयार हैं। खून को खून और पानी को पानी कहने का साहस है उनमें – पर तुम्हीं बताओ, यह कैसे संभव है? / आँख रहते अंधी कैसे हो जाऊँ मैं? / कैसे कह दूँ रात को दिन? / खून को पानी कैसे लिख दूँ?"(पृ. 34)

वे जानती हैं कि सच कहने पर वे अवश्य किनारे कर दी जाएँगी, पर उन्हें कोई फर्क नहीं

पड़ता। निर्मला पुतुल के कवि ने कविता को जीवन की शर्त और तर्ज पर स्वीकार किया है। वे कविता लिखती नहीं, कविता को जीती भी हैं। 'मैं चाहती हूँ' कविता में वे अपना नाम कवियों में दर्ज कराना नहीं चाहतीं बल्कि चाहती हैं कि उनके शब्द से कुल्हाड़ी की भोथरी धार पिजाई जाए, वाक्य धनुष पर तीर बन जाए और शब्द नगाड़े की तरह बज पड़ें ताकि "निकल पड़े लोग / अपने-अपने घरों से सड़कों पर" (पृ. 93) विद्रोह की आग जलाने के लिए यदि उन्हें अपना जीवन भी इसमें होम करना पड़े तो उन्हें कोई अफसोस नहीं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि– "गिरेंगी जितनी बूँदें लहू की धरती पर / उतनी ही जन्मेंगी निर्मला पुतुल / हवा में मुट्ठी-बाँधे हाथ लहराते हुए।" (पृ. 91)

परन्तु कवयित्री इस विद्रोह का लक्ष्य विध्वंस नहीं मानतीं बल्कि उनका मूल उद्देश्य तो रचनात्मक हैं, जहाँ फिर से सब कुछ रचने का सपना है- " और इस अविश्वास-भरे दौर में / थोड़ा-सा विश्वास / थोड़ी-सी उम्मीद / थोड़े-से सपने / आओ, मिलकर बचाएँ / कि इस दौर में भी बचाने को / बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास! (पृ. 77)

वह बचा लेना चाहती है अपनी बस्तियों को नंगी होने से, अपने चेहरे पर संथाल परगना की माटी का रंग, भाषा में झारखंडीपन, जीवन की गर्माहट, दिल का भोलापन, भीतर की आग, कुल्हाड़ी की थार, गीतों की धुन, मिट्टी का सोंधापन, गाने के लिए गीत, हँसने के लिए थोड़ी खिलखिलाहट।

सार्थक रचना जीवन से संवाद स्थापित करने का प्रयत्न करती है। अपने ईमानदार भाव-संसार को व्यक्त करने के लिए निर्मला पुतुल ने कविता का मुहावरा भी सीधा जीवन से ही उठा लिया है। उनका शिल्प संसार जीवनाश्रित हैं, इसलिए आदिवासियों के पक्ष में खड़ी निर्मला पुतुल की कविता अपने लिए उन्हीं के परिवेश से शब्द चुनती है, भाषा गढ़ती है। बोल चाल की सामान्य लोक व्यवहार की भाषा-कविता में गहरी पीड़ा और विडम्बना को खोलती है। परन्तु कभी-कभी कविता विरोध दर्ज करने की हड़बड़ी में लिखी गई जान पड़ती है। अतिक्रांतिकारिता के आग्रह में कविता में कहीं-कहीं वयस्क समझ की कमी तो दिखाई देती ही हैं, साथ ही, काव्य वस्तु का संवेदन दुहराव का शिकार भी हो उठता है। कविता में क्रांति की हड़बड़ी भले ही हो परन्तु यह नकली क्रांति की तलवार भाजती कविताएँ नहीं हैं। कवयित्री का आक्रोश, क्षोभ और तनाव ओढ़ा हुआ नहीं है। यदि अनियंत्रित आवेश को जरा नियंत्रित कर लें तो कविता विद्रोह और क्रांति की सार्थक पहल कर सकती हैं और न केवल अपने समय में बल्कि दीर्घकाल के वृहत्तर परिवेश में असर पैदा कर सकती है। वस्तुतः यह अतिक्रांतिकारिता अपने अंचल के लोग-बाग की त्रासदियों से पैदा हुआ है जो उन्हें एक ओर विद्रोही तो दूसरी ओर अति मानवीय और संवेदनशील बनाता है। निर्मला पुतुल के लिए कविता रचनात्मक उत्पाद नहीं, जिम्मेदारी है, इसलिए उनकी नजर शिल्प के निखार पर नहीं, उस मिशन पर है, जिसे पूरा करने के लिए कविता बस, माध्यम भर है। कबीर के 'अनभय-साँचा' की तरह जो देखा, मोखा और महसूसा, उसीक साक्षी उन्होंने अपनी कविता में ही। 'चुड़का सोरेन से', 'बाहामुनी' और 'ढेपचा के बाबू'

जैसी कविताओं में वह सच सामने आया है जो संथालों के शोषण के क्रूर इतिहास का एक साक्ष्य वन जाएगा। सुवोधनी मराण्डी, पक्लू मराण्डी, ललिता उराँव, दीना मुर्मू के प्रसंगों को तो विना नाम वदले ही सामने ले आई हैं।

कुछ काल पहले तक आदिवासी विमर्श हिन्दी साहित्य से लगभग अछूता था, आज छिट-पुट आवाजें उठ रही हैं। आज समकालीन कविता के सामने इस विमर्श को साहित्य की मुख्य धारा में लाने की एक वड़ी चुनौती है, साथ ही आदिवासियों की हाशिए से वेदखली और विस्थापन के खिलाफ प्रतिपक्ष की सुदृढ़ जमीन तैयार करने की भी चुनौती है। आदिवासी समाज से महादेव टोप्पो, अनुज लुगुन जैसे कवियों की आवाजें तो उठ रही हैं परन्तु साहित्य की मुख्यधारा के कवियों को इस मसले पर भी अपनी चुप्पी तोड़नी होगी। निर्मला पुतुल के शब्दों में कहें तो – 'धीरे धीरे खुलेंगे सभी वन्द दरवाजे / न थकने वाली हमारी लगातार कोशिश की हद के वाद।" (पृ. 85)

निर्मला पुतुल के इस संग्रह की कविताओं से गुजरने के वाद कवयित्री के उक्त कथन में निहित विश्वास की तरह एक विश्वास हमारे मन में भी जगता है कि वाजार में तब्दील होती जा रही दुनिया में उनके शब्द विक नहीं जाएँगे वल्कि नगाड़े की तरह वजते ही जाएँगे।

समकालीन परिदृश्य में आदिवासी कविता

—*धनंजय कुमार साव*

हिन्दी साहित्य के सांप्रतिक परिदृश्य में 'समकालीन' शब्द काफी अर्थवान होकर अपनी अहमियत को दर्शा रहा है। हिन्दी साहित्य के एक विशेष कालखंड से 'समकालीन' शब्द की संपृक्तता को लेकर विद्वानों में एक राय नहीं है। कुछ लोग इसे सत्तर के दशक से तो कुछ नब्बे के दशक से जोड़कर देखते हैं। यही नहीं, आज का सांप्रतिक लेखन भी इसी 'समकालीन' शब्द केअंतर्गत अंतर्भुक्त है। दरअसल, विद्वान लोग 'समकालीन' शब्द के बहाने उस साहित्य की बात उठाते हैं, जो नक्सलबाड़ी आंदोलन के उभार, आम-आदमी के मुद्दों के सामाजिक-सांस्कृतिक मंचों पर छाए जाने के प्रकरण, वैश्विक परिदृश्य में सोवियत संघ के विघटन तो भारतीय परिप्रेक्ष्य में नयी अर्थनीति के उदय और बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने की घटनात्मकता आदि पहलुओं के आलोक और प्रभाव - प्रतिफलन में रचा गया है वह साहित्य, जो अपने भिन्न तेवर के कारण अपने पूर्ववर्ती रचनात्मक लेखन से एक भिन्न आयाम में गत्यमान है।

कहने को तो हमारा देश और समाज इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर चुका है। आज जहाँ, एक तरफ हमारे सिर के ऊपर वायुयान उड़ रहा है, चारों ओर आँखों को चौंधियाती हुई जगमग रौशनियाँ हैं; भौतिक सुविधा को ही सुख मानकर और केवल अपने को तथाकथित सुखी करने की फिराक में मस्त - लस्त पड़े लोग हैं, तो वहीं दूसरी तरफ, एक दूसरा ही नज़ारा है। भारतीय समाज की पहचान, किसान आत्महंता बनने को विवश - लाचार हैं, तो आदिवासी- जन विकास की बलि चढ़ते हुए अपने जल -जंगल -जमीन से बेदखल हो रहे हैं।

हमारा देश भारतवर्ष विविधताओं से भरा है यह विविध जातियों, संस्कृतियों, भाषाओं और धर्मों का देश है। आज हम सभ्यताओं के विकास-पथ पर चलते हुए इक्कीसवीं सदी के तेज भागते समय में प्रवेश कर गए हैं। पर इतने लंबे सभ्यता-सफर में आदिवासी जीवन-समाज कहाँ अटका पड़ा है, जरा इस पर भी ठहरकर सोचने की जरूरत है।

आज जिसे इक्कीसवीं सदी का भारत बताया जा रहा है, उसका एक बड़ा भू-भाग

आदिवासी लोगों का उपेक्षित संसार है। एक रिपोर्ट के अनुसार- आदिवासी सम्पूर्ण भारत में हैं। इनकी संख्या लगभग 8 करोड़ है। यह देश की आबादी का 7.8 प्रतिशत हैं। पूरे देश में आदिवासी समुदायों की संख्या 600 से अधिक है। देश के72 वनज और प्राकृतिक संसाधन, 90 कोयला खदान, 80 खनिज संपदा आदिवासी इलाकों में है, फिर भी 85 प्रतिशत आदिवासी गरीबी रेखा के नीचे गुजर-बसर कर रहे हैं। देश के कुल बंधुआ मजदूरों में 83 मजदूर आदिवासी हैं।[1] स्पष्ट है कि आदिवासी जीवन-समाज देश की आर्थिक समृद्धि-स्रोत के मध्य रहकर भी कंगाल है, उपेक्षित है। कहने की जरूरत नहीं है कि इनकी उपेक्षा का प्रमुख कारण सत्ता के गंदे खेल स्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जंगल-जमीन से आदिवासी जन-जीवन की बेदखली एवं उनकी सामुदायिक संस्कृति को नष्ट करने की दुरभिसंधि है।

उल्लेखनीय है कि भारत की मुख्यधारा का विकसित संसार आदिवासी जीवन-समाज के दोहन की नींव पर अपने विकास-महल के कंगूरे खड़ा कर रहा है। आदिवासी समाज से गहरे जुड़े समाज-चिंतक वीर भारत तलवार का भी इस संदर्भ में यही तर्क है- आदिवासी इलाकों में प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते श्रम का शोषण करके भारत राष्ट्र की जो प्रगति की जा रही है। वह हमारी और आपकी- भारत की विकसित राष्ट्रीयताओं के चरागाह (ग्रेजिंग ग्राउंड) बने हुए हैं। नियम यह है कि हर यज्ञ में बलि जरूरी है। स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास का जो यज्ञ पिछले पचास सालों से चल रहा है, उसमें बलि आदिवासियों की दी गई हैं।[2] अतः आदिवासी समाज में हलचल होना शुरू हो गया है, उसी की एक परिणति आदिवासी साहित्य-लेखन है। यहाँ कहने की जरूरत नहीं है कि अन्याय और शोषण की नींव पर खड़ी हमारी समाज-व्यवस्था के कारण समकालीन हिन्दी कविता में भी आदिवासी स्वर का उठना स्वाभाविक हो गया है, जो साहित्यिक विमर्श के नए तेवर को हमारे समक्ष रखने की कोशिश कर रहा है।

दरअसल बात यह है कि समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी कविता अपने रचनात्मक सफर के प्रारम्भिक पड़ाव में है। इसे अभी लंबी यात्रा तय करनी है, उन दरवाजों पर दस्तक देते हुए अपनी साहसपूर्ण उपस्थिति दर्ज करते हुए जो वर्षों से बंद पड़े हैं। इस संदर्भ में हरिराम मीणा का मन्तव्य है- आदिवासी जीवन को लेकर जब कविता की बात की जाती है, तो मौखिक परंपरा ही समृद्धि के धरोहर के रूप में सामने आती है जो प्रमुख रूप से गेय परंपरा रही है। आधुनिक या समकालीन कविता की दृष्टि से आंचलिक भाषाओं में अवश्य कविता के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति होती रही है। लेकिन हिन्दी भाषा में आदिवासी कविता अभी शुरुआती दौर में है।[3] कहना न होगा कि समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी हिन्दी कविता की उपस्थिति उसकी अपनी आवाज है, जिसे बुलंद करने कई कवि आगे आयें हैं। मसलन- निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, अनुज लुगुन, भुजंग मेश्राम, सीएल सांखला, डॉ भीम सिंह, महादेव टोप्पो, सुशील कुमार, वीर सिंह पाडवी, हरिराम मीणा इत्यादि।

इस संदर्भ में सबसे पहले आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल की कविता 'चुड़का सोरेन' का उल्लेख किया जा सकता है। जहां वर्षों से आदिवासी जीवन-समाज के विकास के नाम पर

देश की मुख्यधारा की सभ्यता-सत्ता के सिरमौर बने लोगों द्वारा होने वाले छल का संकेत है, जहां यह दर्शाया गया है कि आदिवासी जीवन-समाज के लिए देश की 'आजादी' और गणतन्त्र आदि मूल्यों का अब तलक कोई मतलब नहीं निकला है। आदिवासी समाज को केवल नुमाइश की चीज बना दिया गया है। निर्मला पुतुल आदिवासी जन (चुड़का सोरेन आदि) को सत्ता के गंदे खेल और छल से अवगत कराते हुए हमारी सभ्यता की विकास-यात्रा पर प्रश्न करती हैं - तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है / जो तुम्हारे भीतर बैठा कुतर रहा है तुम्हारे विश्वास की जड़ें? / दिल्ली की गणतन्त्र की झांकियों में अपनी टोली के साथ / नुमाइश बनकर / कई - कई बार पेश किए गए तुम पर गणतन्त्र के नाम की / कोई चिड़िया / कभी आकर बैठी / तुम्हारे घर की मुंडेर पर?[4] स्पष्ट है कि कवयित्री का यह सवाल केवल चुड़का सोरेन से नहीं, बल्कि मुख्यधारा के विकसित उस समाज से भी है, जो अपनी सुध में मस्त-लस्त पड़ा है।

कवयित्री यहीं नहीं रुकती हैं, बल्कि वह चुड़का सोरेन के जरिये अपने ही समाज की अंदरूनी कमजोरियों की ओर भी इशारा करती हैं जहाँ आदिवासी समाज का ही नेता अपनी उच्छृंखल कामनाओं को पूरा करने के लिए, थोड़े से लालच को पाकर अपने ही समाज और संस्कृति को उन लोगों के सामने रेहन रख देता है, बेच देता है जिनके लिए आदिवासी समाज-संस्कृति की हर चीज की तरह उनकी स्त्रियाँ भी केवल उपभोग का सामान है। कवयित्री अपनी इस कविता में स्त्री को केवल देह समझकर उसका भोग करने तथा उसकी खरीद- फ़रोख़्त करने की घृणित मानसिकता की शख्त खिलाफत करती है - कैसा विकाऊ है / तुम्हारी बस्ती का प्रधान / जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में / रख देता है / पूरे गाँव को गिरवी और ले जाता है / लकड़ियों के गट्ठर की तरह / लादकर अपनी गाड़ियों में / तुम्हारी लड़कियों को।[5]

स्पष्ट है कि कवयित्री अपनी इस कविता के जरिये उस आदिवासी विमर्श की अलख जगाने की चेष्टा करती हैं, जो आदिवासी जन-जीवन की चेतना को उद्‌बुद्ध कर सके, जो उन्हें उनकी वास्तविक जिंदगी का बोध कराये तथा उन्हे शोषण के हर पहलू की पहचान कराये। वह लिखती हैं- शाम घिरते ही अपनी बस्तियों में उतर आए / इन खतरनाक शहरी जानवरों को / पहचानों चुड़का सोरेन पहचानों!! / पाँव पसारे जो तुम्हारे ही घर में / घुस कर बैठे हैं / तुम्हारे भोलेपन की ओट में / इस पेंचदार दुनिया में रहते / तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन?[6] यहाँ गौर किया जाय तो कवयित्री अपने शब्द- प्रयोग से कई महत्वपूर्ण बातों की ओर इशारा करती हैं वह 'खतरनाक शहरी जानवर' से यह कहना चाहती है कि शहरी- सभ्यता का वहशीपन (लालचपन) इतना खतरनाक है कि अपने भोग, उपभोग और अकेले विकसित होने के मद में पूरे आदिवासी समाज-संस्कृति की अस्मिता को ही निगल जाना चाहती है। इसलिए इनकी चालाकियों को समझने की जरूरत है। इन तत्त्वों से सीधे बने रहकर टकराया नहीं जा सकता है।

इसी संदर्भ में निर्मला पुतुल की एक अन्य कविता 'संथाली लड़कियों के बारे में कहा गया है' का जिक्र करना स्वाभाविक लगता है जिसमे मुख्यधारा के विकसित समाज के सौंदर्य-

बोध और उससे जुड़ी हिपोक्रेसी को उघाड़ने की नीयत साफ झलकती है। वह लिखती है - वे जब हँसती हैं फेनिल दूध सी / मिलने से कतराते और रात के अंधेरे में / मिलने को मांगते हैं आमंत्रण / ये वे लोग हैं जो रात को लबादा ओढ़े / शहरों के आखिरी छोर पर गिरा अपने अंदर की सारी गंदगी / गंदला रहे हैं हमारी बस्तियाँ... [7] स्पष्ट है कि यहाँ कवयित्री दिन-रात और उजाले-अंधेरे की स्थितियों के सहारे मुख्यधारा समाज की उस लोलुप निगाह पर चोट करती है, जो आदिवासी स्त्री-देह को छिप कर भोगने में संलिप्त रहती है। यही नहीं, कवयित्री तो यह भी कहती है कि ये मुख्यधारा विकसित समाज के वे ही सौन्दर्य प्रेमी हैं, जो मेरी कविताओं अर्थात आदिवासी कविता में भी मेरी देह अर्थात स्त्री- देह को ढूंढते हैं - ये वे लोग हैं जो मेरी कविताओं में भी / तलाशतें हैं मेरी देह... [8] स्पष्ट है कि यहाँ कवयित्री अपनी कविता के माध्यम से स्त्री-स्वर को बुलंद करती हुई स्त्री को केवल देह तक सीमित कर देने वाले साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र की भी भर्त्सना करती है।

देखा जाय तो समय के तेज रफ्तार में मुख्यधारा समाज के विकास की परिधि दिन-प्रतिदिन विस्तृत होती जा रही है। यह सब कुछ हासिल करने की ज़िद लिए आगे बढ़ रही है, और जो इसके सामने आता है, आदिवासी जल-जंगल-जमीन (प्रकृति-पर्यावरण) या इनकी संस्कृति उस पर काबिज हो, सिरमौर बन जाने की कोशिश कर रही है। ऐसे नाजुक समय में हिन्दी कविता अपनी प्रकृति और संस्कृति की रक्षा हेतु सजग हो गई है अर्थात जो कुछ है उसे बचाने की जद्दोजहद में लग गई है। आदिवासी कविता का यह स्वर समकालीन हिन्दी कविता के मूल स्वर को ही रेखांकित करता है।

आखिरकार आदिवासी समाज जो चाहता है उसे गंभीरता से देखने-समझने, उस पर ठहरकर विचार करने का समय आ गया है। आदिवासी समाज बस इतना आग्रह करता है कि प्रकृति की नैसर्गिकता की तरह हमारी (आदिवासी) संस्कृति की जीवंतता भी अक्षुण्ण रहे। कवि अनुज लुगुन की कविता ' हमारी अर्थी शाही नहीं हो सकती' का स्वर उक्त संदेश को ही मुख्यधारा समाज के समक्ष पहुंचा देना चाहता है - खेतों के आसमान के साथ / हमने चाहा कि जंगल बचा रहे / अपने कुल गोत्र के साथ पृथ्वी को हम पृथ्वी की तरह ही देखें / पेड़ की जगह पेड़ ही देखें / नदी की जगह नदी / समुद्र की जगह समुद्र / और पहाड़ की जगह पहाड़ ...[9] किन्तु विडम्बना की बात यह है कि आदिवासी जीवन-समाज की इस नाचीज़ मांग की भी रक्षा नहीं करना चाहती है मुख्यधारा समाज की विलासपूर्ण मानसिकता।

वैसे यह बात जाहिर है कि आदिवासी समाज प्रकृति और संस्कृति से अत्यधिक प्यार करता है। इस प्रेम के आलंबन स्वरूप- पेड़, पर्वत, नदी, गीत-नृत्य और संगीत आदि उनमे गहरे समाया रहता है। इस कारण भी आदिवासी कविताओं में अपने अंचल की प्रकृति के रूप में वहाँ के पेड़-पल्लव, नदी, पर्वत, गीत-संगीत का ज़िक्र बार-बार आता है। ऐसी ही संवेदना की एक कविता ग्रेस कुजूर की ' एक और जनी का शिकार' है। इस कविता में यह द्रष्टव्य है कि पेड़-पल्लव आदिवासियों के आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा हैं। कवयित्री का मन

अपने अंचलों से पेड़ों के गायब होने तथा यहाँ के वातावरण के विषाक्त होने से खिन्न है- कहाँ गया वह फुटकल का गाछ / जहाँ गाछ चढ़ती थी मैं / साग तोड़ने / और गाती थी तुम्हारे लिए / फगुआ के गीत / जाने किधर है / कोमल पत्तियों वाला / कोयनार का गाछ जिसके नीचे तुम / बजाया करते थे माँदर और बाँसुरी / ... / कितने उगाए हैं यहाँ / विषैले नागफनी / बार-बार उलझता है जहां / तुम्हारी 'तोलोंग' का फुदना / पटया के उजले पंख? ...[10] स्पष्ट है कि आदिवासी कविता का यह स्वर केवल आदिवासी विमर्श को ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण प्रकृति-पर्यावरण के विमर्श या यूं कहें कि एक नई सभ्यता-विमर्श को हमारे समक्ष रखता है। यही नहीं, प्रस्तुत कविता का यह स्वर एक आदिवासी स्त्री की प्रेम संवेदना के भी चोटिल होने की व्यथा को प्रस्तुत करता है, क्योंकि उनकी प्रकृति, उनका सम्पूर्ण अंचल ही उनके प्रेम का आलंबन है।

इसी तरह भीम सिंह की एक कविता 'पीलू' है, जो आदिवासी जीवन-समाज की पेड़ से जुड़ी संवेदना को एक अन्य स्तर पर उठाती है। पीलू एक फल का पेड़ है। यह राजस्थान के सवाई माधोपुर जिला के लिए एक परिचित नाम है। आदिवासी जीवन-समाज में इसकी उपादेयता मनुष्य और प्रकृति के संतुलन साधने में होती है। यह पेड़ अकाल, बाढ़ एवं ग्रीष्म ऋतु में राहगीरों के विशेष काम आता है। यही नहीं, यह मिट्टी के कटाव को रोकने में सहायक वृक्ष है। पर इन सब बातों से बेख़बर मुख्यधारा समाज की लालची प्रवृत्ति इसे काटने की फ़िराक में रहती है, क्योंकि उसे सिर्फ मुनाफा कमाना है। डॉ भीम सिंह की यह कविता प्रकृति-पर्यावरण और इससे सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से जुड़े आत्मीय जनों की संवेदना की किनारेकशी को गंभीर रूप से उठाती है। वे लिखते हैं - पीलू रे पीलू / पसीने से लथपथ / राहगीरों का एक मात्र तू ही आश्रयदाता / ... / बरसो मेह / तो पाड़ बांधड़ी पड़े रे / तो काम आया 'पीलू' / ... / मेह बरसो कौनी / तो काम आयो 'पीलू' /तो जी गयो भोलू / ... / प्रधान ने दे दियो ठेको तो रो दियो 'भोलू' / तो काई का गीत गाये भोलू? / पीलू रे पीलू ....[11] स्पष्ट है कि यहाँ भोलू की रूदन में आदिवासी समाज की प्रकृति और समाज का क्रंदन व्यंजित है।

आदिवासी जीवन-समाज का अपने पेड़-पल्लव ही नहीं, अपनी नदियों से भी गहरा लगाव होता है। वह उसे माँ की तरह पूजता है, भले ही वह किसी हिमालय की गंगोत्री से नहीं निकली हो। यह समाज अपनी नदियों से इतना आत्मीय-अंतरंग होता है कि इसके सूखने को अपनी व्यथा से संपृक्त कर देखता है। ऐसी ही एक नदी की व्यथा-कथा सुशील कुमार की कविता -' बांसलोय में बहत्तर' है जिसमें संथाल परगना की एक पहाड़ी नदी की व्यथा-कथा के बहाने आदिवासी जीवन-समाज की संवेदना का चित्रण हुआ है- नदी माँ, तुम्हारी ममता में / बहत्तर ऋतुओं को जिया है मैंने / देखता हूँ, तिल-तिल जलती हो दिककुओं के पाप से तुम / दिन-दिन सूखती हो / क्षण-क्षण कुढ़ती हो / निर्मोही महाजनों से / मन ही मन कोसती हो / जंगल के सौदागरों को / रेत के घूँघट में मुँह ढाप रात-रात भर रोती हो ...[12] नदी के रोते हुए

बिम्ब के जरिये आदिवासी जीवन-समाज की वास्तविकता की ओर इशारा हुआ है, जहाँ मुख्यधारा का विकास-उन्माद, पूँजीपतियों के मुनाफे का खतरनाक खेल स्पष्ट व्यंजित है।

इसी तरह पर्वतों के मिटाने की मुख्यधारा समाज की विकास-ज़िद को आदिवासी कविता सम्पूर्ण मानव के प्रकृति-पर्यावरण को असंतुलित करने की खतरनाक कोशिश के रूप में देखती है ग्रेस कुजूर की कविता – 'हे समय के पहरेदारों' का निम्न स्वर यही कहता है - आज तुम अपने ही स्वार्थ के लिए / पर्वतों के पत्थर / तोड़ रहे हो / बारूदी गंध से / जीवन को मोड रहे हो / ... / करोड़ों सालों में बने / इन पर्वतों को / तुम्हारे बारूदी मन ने / फिर-फिर तोड़ा है / और कुँवारी हवाओं को हर बार छेड़ा है।[13] प्रकृति-पर्यावरण के नैसर्गिक माहौल में मुख्यधारा समाज और उसके विकास- उन्माद की अनचाही दखल कही न कहीं कवयित्री को गहरे में पीड़ित करती है। इसी कारण वह साफ-साफ कहती है कि प्रकृति की नैसर्गिकता से छेड़छाड़ सिर्फ आदिवासी जीवन-समाज केअस्तित्व के संकट का प्रश्न नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव एवं मानवेतर प्राणी जगत का संकट है। कवयित्री का चेतावनी भरा स्वर कुछ इस प्रकार है - इसलिए फिर कहती हूँ / न छेड़ों प्रकृति को / अन्यथा यही प्रकृति / एक दिन मांगेगी / हमसे / तुमसे अपनी तरुणाई का एक-एक क्षण / और करेगी भयंकर ... बगावत / और तव / न तुम होगे / न हम होंगे।[14] ध्यान दिया जाय तो इसी बिन्दु पर आकर आदिवासी कविता समकालीन कविता के मूल स्वर-जो कुछ बचा है, उसे बचाने की चाहत-से एकमेक हो जाती है। आदिवासी कविता प्रकृति और उसके उपादानों को बचाने की नीयत के कारण एक तरह से आदिवासी विमर्श को पर्यावरण विमर्श या यूं कहें एक नए सभ्यता-विमर्श को स्वर देती है।

आदिवासी कविता एक व्यापक कैनवास लिए हुए हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इसमें आदिवासी जीवन-संस्कृति के शोषण-दोहन का जो कुचक्र मुख्यधारा समाज का विकास-उन्माद करता है, उसका गंभीर निरूपण है। प्रकारान्तर से यह उत्तर आधुनिक सभ्यता के उस भयावह पहलू को दर्शाता है, जहाँ यह मान लिया गया है कि उपभोग और केवल स्वयं के केवल अकेले का उपभोग ही चरम सुख है। इसी तरह आदिवासी कविता अपने समाज की स्त्रियों को देह मात्र समझने, उसे वस्तु की भाँति खरीद-फ़रोख्त करने की घृणित मानसिकता को आड़े हाथों लेती है तथा पूंजीवादी-सामंती पितृसत्ता को चुनौती देती है। इस बिन्दु पर आदिवासी कविता स्त्री-विमर्श को भी अपने भीतर समेट लेती है। प्रकृति की नैसर्गिकता और मानवता को बचाने की संवेदना के कारण आदिवासी कविता पर्यावरण-विमर्श को तथा उसके माध्यम से सभ्यता के नए विमर्श को स्वर देती है। सारतः कहा जाय तो आदिवासी कविता एक समावेशी विमर्श को आगे बढ़ाती है, जिसे समकालीन हिन्दी कविता को आग्रहपूर्वक सुनने-समझने की जरूरत है।

संदर्भ-सूची

1. उद्धृत, देवसरे, डॉ. शिवाजी, समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, विद्या प्रकाशन, कानपूर, प्र सं 2013, भूमिका

2. उद्धृत, आलोचना,अक्तूबर-दिसम्बर, 2008
3 मीना, हरिराम (संपादक), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, प्र. सं. 2013, पृ. 10
4. यथोपरि, पृ. 27-28
5. यथोपरि, पृ. 28
6. यथोपरि, पृ. 29
7. यथोपरि, पृ. 30
8. यथोपरि, पृ.31
9. यथोपरि, पृ. 16
10. यथोपरि, पृ.10
11. यथोपरि, पृ.75-76
12. यथोपरि, पृ.85
13. यथोपरि, पृ.24-25
14. यथोपरि, पृ.25-26

समकालीन कविता में मजदूर और किसान

- रचना पांडेय

उत्तर आधुनिकता के इस दौर में हर तरफ से मोहभंग की स्थिति है। समकालीनता शब्द में गतिशीलता और प्रासंगिकता का बोध होता है। यह कविता मोहभंग की कविता है किन्तु अंधेरे में भी प्रकाश की खोज करती है। अंधेरा बेचैन भी करता है और जूझने की शक्ति भी देता है। यह कविता ऐसे समय में लिखी जा रही है जब बाजारवाद, उपभोक्तावाद और विज्ञापनवाद का बोलबाला है। यह कविता सन् 1980 के बाद से अब तक लगातार लिखी जा रही है। कवियों ने अपने समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। वस्तु या शिल्प के स्तर पर कोई नयी जमीन नहीं तेजी गयी है। नए कवि अवश्य आए हैं जिनका हिन्दी साहित्य स्वागत करता है। कवि के मानस-जगत में उत्थित भाव और विचारों की इन्द्रियानुभूति बिंबों में सफल अभिव्यक्ति ही समकालीन काव्य की सच्ची सृजनात्मकता है। टूटते हुए मिथक और चटकती हुई आस्थाओं के बीच कविता कथ्य-शिल्प और भाव तीनों ही दृष्टिकोण से श्रेष्ठता की परिधि में आ जाए तभी समकालीन काव्य की सार्थकता है, अन्यथा नहीं। इन कविताओं में जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति, ललक अर्थात रागधर्मी जीवनोन्मुखता ही रोमांटिक नवीनता का अभास कराती है। समकालीन कविता की पहचान यह भी है वह परिवेशगत बदलाव को न केवल स्वीकार करती है, वल्कि उसे निरन्तर अतिरिक्त आग्रह के साथ रेखांकित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करती है। यह कविता अपने समय के मुख्य अन्तर्विरोधों और द्वन्द्वों की कविता है। समकालीन कवि अपनी परंपरा से बहुत गहरे तक जुड़े हैं। उसकी एक भारतीयता भी है। वह संस्कृतियों की अनवरत यात्रा और उनके संगम को स्वीकार करती है। इसी तरह से मनुष्य की जययात्रा जारी रहती है।

समकालीन कविताएँ संसार में कहीं भी हो सकनेवाली नामहीन कविताएँ नहीं हैं, वे ऐसी कविताएँ हैं जो अपने घर की हैं, हमारे यहाँ की हैं, जो इतिहास के एक खास बिन्दु पर की हैं, वे सच्ची और सार्थक हैं। यह व्यापक मान्यता है कि कविता उन मूल्यों को विवक्षित और चरितार्थ करती है, उनका सत्यापन और संकट की घड़ी में उनकी रक्षा भी। विश्वनाथ त्रिपाठी

का मानना है कि आज कवि बनना एक स्टेट्स सिम्बल है। कविता लिखकर आम से खास लोगों के क्लब में दाखिल हो सकते हैं। उन्हीं के शब्दों में : "आपके पैसा है, मकान है, कार बिल्डिंग, सब-कुछ है तो जैसे पोशाक पर इत्र लगाते हैं – वैसे ही अगर कवि भी हो जाएँ तो personality में एक और भी रंग आ जाएगा और अनेक संभावनाएँ खुल जाएँगी।" समकालीन कविता की पहचान यह भी है कि वह आक्रामक है। समकालीन कविता ऐसा पाठक चाहती है जो सतर्क और जागरूक हो और चीजों को सावधानी से और समझकर पढ़े। इस कविता की मानसिकता मात्र सत्ता परिवर्तन की परिधि में ही आबद्ध नहीं है वह एक बेहतर मानवीय समाज की स्थापना को भी अपना लक्ष्य ठहराती है। यह कविता मनुष्य की जीवनी शक्ति को, उसकी संघर्षशील चेतना को रेखांकित करने वाली, उसकी तलाश करने वाली कविता है। समकालीन कविता विगत काव्य प्रवृत्तियों की कमियों का सुधार करती हुई मानवीय संवेदना, जीवन-संघर्ष व रागात्मक बोध का जीवन्त सौन्दर्यबोधी सकारात्मक परिप्रेक्ष्य सिरजती है। और आम आदमी के प्रति संवेदनशील है।

युग चाहे कोई भी हो शासक और शोषित वर्ग की उपस्थिति अनिवार्य है। प्रगतिशील कविता हमेशा ही शोषित, लाचार, मजबूर किसान तथा मजदूर वर्ग का हिमायती बनकर अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही है। इस वर्ग की स्थिति हमेशा से ही चिन्तनीय रही है। समाज की पीड़ा को समझकर उसे उजागर करना कवि का धर्म होता है। समकालीन कवि शहरी मध्यवर्गीय कवि है। मजदूर के जीवन के यथार्थ को बाहर से देखकर लिखता भी है तो यह काबिले तारीफ है। समकालीन कविता में मजदूर और किसान शोषित भी हैं, प्रताड़ित भी हैं, लाचार भी हैं, संघर्षशील भी हैं और सबसे बड़ी बात उनमें स्थिति की समझ और उसके प्रति प्रतिकार और विद्रोह की भावना भी है।

मजदूर वर्ग की संवेदना उजागर करने में समकालीन कविता कहीं-कहीं तो बहुत ही कलात्मक रूप में सामने आती है, अरुण कमल के शब्दों में : "रात के अंधेरे में दौड़ती जाती है पंजाब मेल / खिड़कियों से छूट-छूट कर गिरते हैं रोशनी के पट्टे, हवाएँ लौह झंझरियों से बजती / .... कलकत्ता के कारखाने में बहाल / जालन्धर का एक मजदूर / जा रहा है वापिस फिर काम पर / छूट गया है मुल्क बहुत दूर / बस तलवों में बाकी है / थोड़ी-सी धूल / .... पंजाब की"

गरीबी और भुखमरी से परेशान गाँव से नगर की ओर संचरण से मजबूर व्यक्ति है और जिसे "निगलने के लिए / मिल और कारखानों का धुँआ / बाए हुए है जबड़ा / और मैं स्वतन्त्र देश का स्वतंत्र नागरिक / बीन रहा हूँ जूठन / बीन रहा हूँ कूड़ा!! बीन रहा हूँ कचरा!!!" (मनोज सोनकर)

जिन्दगी की बुनियादी जरूरतों को जुटाने में असमर्थ, भूख, बेकारी, असमय बुढ़ापे जैसे सवालों से जूझते मजदूर वर्ग की बद से बदतर होती जा रही जिन्दगी कवि कमलाकान्त द्विवेदी को यह कहने पर विवश करती है कि मनुष्य की हालत पशु से भी गई गुजरी हो गई है :

"इसलिए चूहा माँगता है। चूहे की मौत भले ही उसे मरना पड़े / मगर आदमी की जिन्दगी किसी भी शर्त पर / उसे जीना न पड़े।"

राजेश जोशी की कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' सही अर्थ में हमारी व्यवस्था पर चोट करनेवाली है जिसे एक लघु प्रसंग के माध्यम से उजागर किया गया है। इसके अन्तर्गत हम तमाम विसंगतियों का अनुमान कर सकते हैं जिसमें बन्धुवा बाल मजदूरों की समस्याओं को दिखाया गया है : "कोहरे से ढ़की सड़क पर / बच्चे काम पर जा रहे हैं। सुबह-सुबह! बच्चे काम पर जा रहे हैं /हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह / भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना / लिखा जाना चाहिए इसे एक सवाल की तरह / काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे।"

समकालीन कविता निरन्तर मनुष्य को तलाशती है। 'बूनो की बेटियाँ' के माध्यम से आलोकधन्वा एक सामाजिक अवस्था की तलाश कर रहे हैं जहाँ रोजमर्रा के जीवन के अनगिनत पहलुओं के साथ मजदूरी में ही जीवन के अर्त ढूँढने वालों की मार्मिक स्थिति कविता के केन्द्र में है। मजदूर वर्ग के जीवन को बार-बार दरकिनार करने तथा उसे हमेशा के लिए मिटाने की दृष्टि में निहित मानवीय व्यवहार को दर्शाया गया है : "उनकी हत्या की गई / उन्होंने आत्महत्या नहीं की / इस बात का महत्व और उत्सव / कभी धूमिल नहीं होगा कविता में।"

मजदूर किसान अगर कभी किसी राह पर बच भी जाता है तो यह उनका नसीब ही कहा जाएगा ऐसा लीलाधर मंडलोई का मानना है। इसलिए वे इनके लिए कहते हैं कि : "इस बार बच गए तुम इसका यह मतलब नहीं / कि तुम सचमुच बच गए।"

धूमिल ने गाँवों में रहनेवाले मजदूर किसानों के चरित्र को वड़ी गहराई से पहचाना है। यह वे हैं जो अपनी जरूरतों के आगे असहाय है वह : "एक भेड़ है / जो दूसरों की ठण्ड के लिए / अपनी पीठ पर / ऊन की फसल ढो रही है।" धूमिल कहते हैं इस जनता की मानसिकता क्रान्ति की नहीं है उसके भीतर की आग बाहर नहीं आती : "क्रान्ति - / यहाँ के असंख्य लोगों के लिए / किसी अबोध बच्चे के हाथों की जूजी है।"

कवि केदारनाथ अग्रवाल के मजदूर वर्ग के पौरुष के प्रति मार्मिक शब्द चित्र दर्शनीय है : "मैंने उसको / जब-जब देखा / लोहा देखा / लोहा जैसा / तपते देखा / गलते देखा / ढलते देखा / मैंने उसके / गोली जैसा चलते देखा।"

मजदूर, किसान में अपनी धरती के प्रति मोह को दर्शाता हुआ विनोद कुमार शुक्ल की कविता 'बोने को चार बीज' एक ऐसे किसान की कविता है जिसके पास खेत का एक टुकड़ा भी नहीं बचा लेकिन उस खेत के अंतिम टुकड़े का और देहरी में गिरकर बचे हुए धान के चार बीजों को बोने का मोह अब भी उसके मन में है : "बोने को चार बीज हैं धान के / जाते-जाते झरकर बच गए देहरी में / जैसे स्वयं बचे थे बीज / सबकी नजर बचाकर / फिर भी बचा रह गया मोह / अर्थ अंकुरित होने वाले / खेत के अंतिम टुकड़े का "

समकालीन कविता संघर्षों, बेचारगी के बावजूद अंत तक बचे रहने का संदेश देती है।

विनोद कुमार शुक्ल की कविता 'सब कुछ होना बचा रहेगा' का केन्द्र मेहनत और मजदूर की महत्ता है। कवि यहाँ भाषा और शिल्प की सारी रूढ़ियों को तोड़ता हुआ अभिव्यक्ति का नया मुहावरा ढूँढ़ता है : "यह सड़क / जारह कहूँगा / मैंने देखा / सड़क पर एक मजदूर जा रहा था / आदमी तो फिर भी अलाल है / पिछड़ गया है / उसे लेने / यह सड़क लौट रही है कहूँगा / जो मजदूर के द्वारा पीछे छूटी हुई है।"

शुक्ल की ही एक और कविता 'शरारतन मैंने मुड़कर देखा एक पेड़ को' में उन्होंने अपने अतीत की स्मृति में उन शोषित मजदूरों का चित्रण किया है जो सुबह से मेहनत करके भी दो जून की रोटी बड़ी मुश्किल से जुगाड़ कर पाते हैं। कविता के एक भाग में धोबिन को अपने पेट की फिक्र न होकर कपड़ों की फिक्र रहती है। कवि वर्षों से चले आ रहे इस शोषण के प्रति चिन्तित है क्योंकि यह कभी खत्म होने वाला नहीं है : "जिस प्रकार भूल जाते हैं। जिन मकान गली कूचों को / भूल जाने से / गायब तो नहीं होते / होते हैं वहीं, वहीं वे / जहाँ वे छूट गए होते हैं।" ऐसा ही दृश्य में देहाती मजदूर और किसान का चित्रण है। सूखे और अकाल, भूख और गरीबी से तंग इन लोगों को पलायन करता देखकर कवि का मन चीत्कारता है और उन्हें रोकते हुए कहता है : "अरे ! रोक दो मत जाने दो / मजबूर विस्थापित मजदूरों को / कहाँ गया लाल झंडा, लालबत्ती गाड़ी रोकने को /आ क्यों नहीं जाता सामने सूर्योदय लाल सिग्नल सा / खींच दे उसमें से ही कोई जंजीर खतरे की।" 'काम पर जाती हुई औरत' अपने और बच्चों का पेट पालने के लिए सुबह से बच्चों को घर में रोता छोड़कर का पर निकलती है। दिन भर खटने के बाद भी घूरे में उगा टमाटर भी मालकिन से पूछकर लेती है। यह देख कवि आश्चर्यचकित है : "बाप रे बाप / खराब दिन और खराब रातों के घूरे में / उगे हुए टमाटर के पौधे को भी /वर्तन मांजने वाली / मालकिन से पूछकर ले जाती है / कि आने वाले समय में / पानी बोरे बासी के साथ / टमाटर की चटनी अच्छी लगेगी।"

किसान, मजदूर वर्ग का चित्रण करने वाले कवियों ने सामाजिक न्याय की पक्षधरता लेते हुए अर्थ-व्यवस्था के विकास के बुनियादी मॉडल में परिवर्तन की माँग, लोकबुद्धि को समझने का प्रयास इत्यादि अनिवार्य पहलुओं को कविता में उठाया है। भगवत रावत की कविता 'सच पूछो तो' कई अर्थों में निराला की तोड़ती पत्थर के आगे की रचना है। यह कविता उपभोक्तावादी संस्कृति की विडम्बनाओं में मानवीय नियति की निरुपायता एवं करुणा को उभारते हुए देश तथा समाज के भविष्य पर प्रश्नचिह्न भी लगाती है। इसी तरह अरुण कमल की कविता जहाँ भी मनुष्यता कराह रही होती है, वहाँ पहुँचती है, क्योंकि यह कविता आज चेतना की भी कविता है। वह अन्याय के खिलाफ खड़ी होती है। इनकी कविताओं में मुक्ति की पुकार स्पष्ट सुनायी देती है। यहाँ श्रमरत समाज की यातनाएँ हैं।

समकालीन कविता में शोषण और दमन के प्रति मजदूरों की सजगता और उनके विद्रोही रवैये की ओर भी स्पष्ट संकेत है। समकालीन कवि सोमदत्त का यह मानना है कि शोषित वर्ग शोषण को समझ ही नहीं रहा, कार्यवाही करने के लिए भी व्यक्त है : "मजदूर समझ रहे हैं /

ठेकेदार नहीं समझ रहा है कि / धँसते सफेद पड़ते गलते-जलते मजदूर / समझ रहे हैं - कि नींव में भरे जा रहे हैं वे / कि जंगल बिछाए जा रहे हैं वे / ठेकेदार नहीं समझ रहे हैं कि मजदूर समझ रहे हैं / और कभी भी / घटना घट सकती है।" (काम करते मजदूर समझ रहे हैं।)

नयी पीढ़ी की कविताओं में विद्रोह और संघर्ष का भाव अमूर्त धारणाओं के रूप में नहीं, अपेक्षाकृत आत्मीय और सामाजिक संदर्भों में हुआ है। कवि विनय निरन्तर जूझने का आभास देते हुए अपनी कविता में साफ-साफ निर्णयात्मक रवैया अपनाते भी दिखते हैं : "मेरा आकाश मुझे नहीं मिला / तो तुम्हें भी नहीं लेने दूँगा एक इंच धरती।"

मजदूरी, खेती, श्रम सब रोटी के लिए ही है और रोटी पर ही जब संकट हो तो प्रतिरोध की चेतना और साहस का पैदा होना लाजमी है / 'एक ठेठ किसान के सुख' कविता में केदारनाथ सिंह "आज नरकट की पत्तियों में / उसने एक साँप की चमकती हुई / आँखें देखीं / उसने जोखिम में देखी एक अद्भुत सुन्दरता / और कुछ पल अवाक देखता रहा उसे।" कहकर साहस के पैदा होने का अद्भुत बिंब खींचते हैं। साहस के पैदा होते ही किसान विद्रोही हो जाता है : "वह कचहरी गया / वहाँ उसके सामने रखा गया एक सादा कागज / कहा गया - यहाँ... यहाँ... / एक दस्तखत करो / उसने इन्कार किया/ और उसे लगा /वह दस गुना बीस गुना / सौ गुना / और जिन्दा हो गया!"

शोषण के विरुद्ध क्रान्ति लाने के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'आग' कविता में किसानों और मजदूरों से अभिन्न हो जाने की बात करते हैं : "अब-/ उनका और मेरा चेहरा एक हो गया है / हम सब एक अंगार है, एक लपट, एक आग, / एक शब्द, एक अर्थ, एक राग, / एक चरण, एक यात्रा, एक राह, / एक संकल्प, एक नारा, एक चाह, / समर्पित / एक क्रान्ति को।"

इसी तरह के भाव विष्णु खरे की कविता 'काम' में है। कवि अपनी आवाज को मजदूरों की आवाज से मिलाते हुए कहता है : "जिससे तुम्हें मेहनताना मिलेगा तुम वह काम कर रहे हो / जो दरअसल तुम्हारा अपना नहीं है दूसरों ने दिया है / और जिसे जब तुम कर रहे हो तो उसे देने वाले सो रहे हैं / उन्हें पता और शायद परवाह नहीं है / कि किन-किन वक्तों में कैसे-कैसे तुम उसे पूरा कर रहे हो .... / .... और यह भी मत सोचो कि इस वक्त सभी सो रहे हैं / - बेशक एन इसी वक्त कुछ लोग होंगे / जिनके ऐसे ही काम पूरे नहीं हुए हैं / लेकिन जो उन पर सोच रहे होंगे।"

इस प्रकार हम पाते हैं कि समकालीन कविता मजदूर और किसान वर्ग से जुड़ी है। इस कविता पर यह आरोप लगाया जाता है जिसे हम इस चुनौती के रूप में ले सकते हैं कि आज की कविता ने लय और छन्द का परित्याग कर दिया है, जिसकी वजह से वह जुबान पर नहीं चढ़ पाती। चुनौतियों में एक और बिन्दु यह उठता है कि इसका समय दीर्घ हो गया है जिसके सीमा निर्धारण में कठिनाई उत्पन्न हो रही है। समकालीन कविता व्यक्ति से प्रेम की कविता है, व्यक्ति के बचे रहने की कविता है, अंकुरित होने की कविता है। इसलिए संभावनाएँ भी इसमें

जीवित हैं। नामवर सिंह के शब्दों में "हमें जनता को भी शिक्षित करना पड़ेगा और उसमें अपनी भाषा, साहित्य और अच्छी कविताओं से नेह करना सीखना होगा।"

सहायक ग्रन्थ सूची :

1. नामवर सिंह, साहित्य की पहचान, सं. आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2012
2. समकालीन काव्य यात्रा, नन्द किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2004
3. कवि कह गया है, अशोक वाजपेयी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण : 2000
4. समकालीन हिन्दी कविता, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण :2014
5. समकालीन हिन्दी कविता, ए. अरविन्दाक्षन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 2001
6. समकालीन कविता के आयाम, सं. पी. रवि,लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 2013
7. समकालीन कविता और सौन्दर्य बोध, रोहिताश्व, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1996
8. आधुनिक हिन्दी कविता, डॉ. हरदयाल, शब्दकार, दिल्ली, प्र.सं.-1993
9. समकालीन कविता : प्रश्न और जिज्ञासाएँ, आनंद प्रकाश, लोकमित्र, दिल्ली, प्र.सं.-2011
10. समकालीन हिन्दी कविता संवाद, सं. डॉ. विनय, अश्विनी पराशर, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.-1983
11. कवि कथाकार विनोद कुमार शुक्ल का साहित्य, डॉ. आस्था तिवारी, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, प्र.सं.-2008
12. कल के लिए (पत्रिका) सं. डॉ.जयनारायण, बहराइच, अंक तीन. 2013 - 2014

गरीबी से नहीं, अपमान से डर लगता है...

–रीता दास

चौराहे पर बैठकर जूता सीने वाले, मुंह बांधकर आदमी (सवर्ण) का मल-मूत्र सिर पर ढोने वाले, सुबह तड़के उठकर सड़क बुहारने वाले, गंदे कपड़े धोने वाले, जूठन खाने वाले, मरे पशु को उठाने वाले, फुटपाथ पर सोने वाले...और कोई नहीं, वह हमारे देश का 'दलित' है। हमारे आदिम समाज ने अपने फायदे के लिए उसे वर्ण व्यवस्था के नाम पर हाशिए पर धकेल दिया। यह वह व्यक्ति है जिसके साथ लात-घुसों से बात की जाती रही। यदि उसका स्पर्श हो जाए, तो इसके लिए गंगा स्नान जरूरी समझा गया। शिक्षा के नाम पर उसे 'पच्चीश चौके डेढ़ सौ सिखाया' गया। ऐसे अपमानित, शोषित, वंचित पीड़ित लोगों पर कलम चलाने वाले को 'दलित साहित्यकार' कहा जाता है। इस साहित्य का उद्देश्य है दलित्व से मुक्ति, शूद्रत्व से मुक़्ति, ऊंच-नीच के पदानुक्रमण से मुक्ति, शोषण से मुक्ति। इसका लक्ष्य है समतावादी समाज की स्थापना।

हिंदी जगत में बार-बार सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्यकार कौन है? इसके मानदंड क्या है? इस सवाल का सीधा सा जवाब है कि शायरी लिखने के लिए मुसलमान होने की जरूरत नहीं। भिखारी की आत्मकथा लिखने के लिए कटोरा लेकर सड़क पर भीख मांगने की जरुरत नहीं। बस आपकी संवदेना सच्ची होनी चाहिए। ह्दय साफ होना चाहिए। निराला ने तो ब्राह्मण होकर ब्राह्मण को लताड़ा। खरी-खोटी सुना दी। 'सरोज-स्मृति' में वें लिखते हैं - ये जो यमुना के से कछार / पद, फटे बिवाई के उधार / खाए के मुख ज्यो, पिए तेल / चमरौंधे जूते से सकेल / निकले, जी लेते, घोर गंध / उन चरणों को मैं यथा अंध / कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति / हो पूंजू, ऐसी नहीं शक्ति।

निराला-नागार्जुन के बाद भी गैर-दलित डॉ. सुमन सिंह, रमणिका गुप्ता, विजेंद्र प्रताप जैसे कवि तथा बजरंग बिहारी तिवारी जैसे चिन्तक -आलोचक ने दलितों के लिए जमकर लिखा

और लेखन कार्य बदस्तूर जारी है। दलित साहित्य खूब छप भी रहा है। एक से बढकर एक विशेषांक निकाले जा रहें है। दलित साहित्य का अपना एक बाजार स्थापित हो चुका है।

हिंदी साहित्य के अध्येता यह भली-भांति जानते हैं कि हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में एक कालखंड (1936-1943) प्रगतिवाद के नाम से जाना जाता है। जिसका आधार मार्क्सवाद, जो शोषितों-पीड़ितों की वकालत करता है। लिपिस्टिक लगे नहीं, पपराये होठो की व्यथा लिखता है। लेकिन यह प्रगतिवाद दलितों के कुछ काम नहीं आया। उसके दर्द पर मरहम नहीं लगा सका। वास्तव में उसे दूसरे तरह की दवा की जरूरत थी। मार्क्सवाद की इस चूक को जेएनयू के शोधार्थी कन्हैया कुमार ने भली-भांति समझा और उसने दोनों को जोड़ने का नारा दिया। उसके लाल और नीले रंग के मिश्रण में कुछ अलग बात तो है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

दलित साहित्य को रमणिका गुप्ता छायावादी, प्रगतिशील या जनवादी साहित्य के विरुद्ध या अगली कड़ी के रूप में नहीं देखती। वें मानती हैं-'ये एकदम अलग साहित्य के रूप में उभरा, जो समाज के वहुजन लोगों को अभिव्यक्ति की शक्ति मिलने के बाद, उनके हृदय से फूटा है। वह लोग जो चौपाल पर भी बैठने केअधिकारी नहीं थे, उनके मन में स्तोत्र फूटे। ये भक्त कवियों की तरह धार्मिक धरातल पर खड़ा नहीं हुआ। ये तो धर्म और भगवान के विपरीत वैज्ञानिक सोच पर आधारित है। ये तात्कालिक संदर्भ के मुद्दों से टकराते हुए जो संवेदना उभरती है, उसकी अभिव्यक्ति करता है। यह साहित्य तो दलित औरतों को नंगा करने, दलित टोलों को जलाए जाने, उनके दूल्हें के घोड़े पर चढने के कारण पिटने अथवा स्कूल, कॉलेज व नौकरी के कार्यस्थलों पर भेदभावभरी घृणा की दृष्टि से देखे जाने या जान-बूझकर प्रोन्नति का अवसर न दिये जाने अथवा भयानक गरीबी, अशिक्षा, अज्ञान और जड़ता की स्थितियों में उनकी एक बड़ी जमात को सदियों से रहने के लिए मजबूर किये जाने की पीड़ा का दस्तावेज है।'(रमणिका गुप्ता, दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, पृ- 81)

इस भेदभाव का ज्वलंत उदाहरण हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय का दलित छात्र रोहित वेमुला है। जिसे इस दमघोटूं वातावरण में खुदकुशी करने पर मजबूर होना पड़ा। लेखक बनने का सपना अपने साथ लेकर वह इस जहाँ से चला गया। इस देश के कॉलेज और विश्वविद्यालय में रोहित जैसे हजारों-लाखों दलित छात्र हैं जो सवर्ण अध्यापक के पक्षपात का शिकार होते हैं। उनका दिन जिल्लत और अपमान का घूंट पीकर गुजरता है। उनकी रातें भय के साये में गुजरती हैं। उन्हें कल्पना-कानन में विचरने का समय नहीं।

हमारे देश के समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री देश की मूल समस्या गरीबी मानते हैं। लेकिन दलित साहित्यकार जानता है कि गरीबी से भी बड़ी और सार्वकालिक समस्या जाति-पांति की

है। हमारे यहां अनपढ़, निरक्षर सवर्ण गरीब, बुद्धिमान व शिक्षित शूद्र को अपने बराबर मानने को तैयार नहीं। कंवल भारती ने इस दर्द को बहुत अच्छी तरह पहचाना है। उन्होंने चिड़िया को प्रतीक बनाकर सही जगह निशाना साधा है। यथा- चिड़िया भूखी थी / इसलिए गुनहगार थी।

यह सच है कि व्यक्ति गरीबी में जी सकता है, लेकिन बेइज्जती की टीस वह सह नहीं सकता। यह टीस व दर्द ब्याज के रूप में उसके वारिस को भी मिलती है। इसलिए दलित साहित्य के शिल्प में प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण तलाशना बेमानी है। दलित साहित्यकार पहले लिखता है फिर शिल्प के विषय में सोचता है। अगर शिल्प बन गया तो ठीक अन्यथा कबीर की तरह कह देने को अपनी कला मानता है। दलित साहित्यकार के लिए 'शब्द चेतना है/ शब्द अन्याय के विरूद्ध / भंवरी की न्यायिक वेदना है... ।' कवि जयप्रकाश कर्दम को अपने पिता की कमर पर पड़ी 'बढ़नी जाट की वह लाठी सीने में कसकती है' और मलखान सिंह बहुत चाहकर भी ब्राह्मण देवता का आदर नहीं कर पाते। उनमें साजिश की बू आती है। वें अपनी कविता 'सूनो ब्राह्मण' में कहते हैं- हम जब भी / तेरे कदमों में सर रखने की सोचते है / तेरा धरती में गडा स्थूल लिंग / अग्रज एकलव्य का कटा अंगूठा प्रतीत होता है।

दलितों के साथ ऐसा क्या हुआ होगा कि वे अब तक आक्रोश की अग्नि में जल रहें हैं। अब तो उन्हें सवर्णों की संवेदना भी साजिश लगती है। उनका प्यार एक गाली लगता है। इस अविश्वास का एहसास हम नीचे डॉ. एन सिंह की कविता में देख सकते हैं- ये समरसता की रामनामी ओढकर / वे फिर आ गए हैं / भूलो मत वे वही हैं।

यही कारण है कि समकालीन कवि और आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव दलित मुक्ति के लिए सामाजिक और मनोगत संरचना में आमूलचूमल परिवर्तन की वकालत करते हैं। वहीं दूसरी ओर केदारनाथ सिंह एक साक्षात्कार में दलितों के इस उबाल और आक्रोश का स्वागत करते हुए कहते हैं- 'ये सब अपना-अपना हक मांग रहें हैं। लोकतंत्र का जिस तरह का विकास राजनीतिक व्यवस्था कर रही है और जो संसद व कार्यपालिका के माध्यम से सामने आ रहा है, वह बताता है कि उसके भीतर से जो असंतोष पैदा हो रहा है, यह उसी असंतोष की उपज है।' वें मानते हैं कि दलित साहित्य का का भोगा हुआ दुख गैर दलित से ज्यादा प्रामाणिक है-'मैं अपने गांव में उन लोगों को देखा करता था, जो पशुओं का चमड़ा निकालने के काम करते थे। जब मैं उनके पास मरा हुआ पशु लेकर जाता था, तो यही समझता था कि वे चमड़े निकालकर उससे जूते या अन्य सामान बनाते होंगे। बाद में तुलसीराम की आत्मकथा में पढ़ा कि वे उस मरे हुए पशु की मांस भी निकालकर मोहल्ले में बांटते थे और वह खाया जाता था। यह मेरे लिए शर्म से जमीन में गड़ जाने वाला झटका था। यह झटका देने वाली सच्चाई मुझे उनकी आत्मकथा से ही पता चली।' सच है कि दलित-जीवन की त्रासदी, दर्द, कराह, छटपटाहट को

एक दलित साहित्यकार ही अच्छी तरह कह व लिख सकता है।

हां, दलित खैरात नहीं, अधिकार चाहते हैं। थोड़ा सम्मान और प्यार चाहते हैं। हीरा डोम की शिकायत ठंडे बस्ते में डाल दी गयी। लेकिन उनके वारिसों ने एक-एक पाई का मोल अपनी लेखनी से चुका दिया। जय प्रकाश कर्दम, ओम प्रकाश वाल्मीकि, कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टाकभौरे, कौशल्या बैसन्त्री, डॉ धर्मवीर, सीबी भारती आदि ने उनकी परंपरा को बढाया ही नही,बल्कि उसे मुक्कमल आवाज भी दी है। कंवल भारती की कविता 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती' में उस ताप को थोड़ा महसूस कीजिए- ओ मुक्ति संग्राम लड़ा था तुमने / वह जारी रहेगा उस समय तक / जब तक कि हमारे / मुर्झाये पौधे के हिस्से का सूरज / उग नहीं जाता।

हीरा डोम के वारिस ने उन्हें अमर कर दिया। ऐसा सूरज उगाया कि जिसका अब अस्त होना मुश्किल लगता है।

दलितों से अधिक बुरी स्थिति दलित स्त्रियों की है। वह दलितों से भी दलित हैं। इतिहास गवाह है कि भारत में 'बहू जुठाई' जैसे घिनौनी प्रथा भी थी। इस प्रथा में जमींदार या ठाकुर नई नवेली दुल्हन को भोग करता था। इस बलात्कार का किसी थाने या कचहरी में शिकायत नहीं की जा सकती थी। क्यों, क्योंकि यह प्रथा थी। रिवाज था। यदि इस बलात्कार से वह दलित दूल्हन गर्भवती हो जाए, तो दलित पिता ही उसका पालन-पोषण करेगा। सोचिए और एक बार महसूस कीजिये उस नये दूल्हें की मानसिक संत्रास को! उसकी मजबूरी को! कैसे सहन किया होगा जब कोई प्रथा के नाम पर उसकी बीवी को अपने घर पर रखें। झूठी परंपरा के नाम पर हजारों साल से दलित बहू-बेटियों की इसी तरह अस्मत लूटी जाती रही और अभी भी जारी है। दलित कवि फूलन को नहीं पूजेंगे, तो क्या दुर्गा को पूजेंगे? दलित के स्पर्श से उनका धर्म भ्रष्ट होता है लेकिन दलित स्त्री के उरोजों को गंदी निगाह से देखने और भोगने से उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता- भूख के उरोज / पर सेठ या मुनीम / और न धरें नजर...

कंवल भारती का आक्रोश तब फूट पड़ता है, जब कोई आलोचक दलित के सौंदर्य शास्त्र व शिल्प पर उंगली उठाता है- ये बताओ बलात्कार की शिकार / तुम्हारी मां की भाषा कैसी होगी।

तो दूसरी ओर एन आर सागर पूछते हैं - यदि तुम्हारी बहन बेटियों को / सर्वथा निर्वस्त्र घुमाया जाए / गली-गली नचाया जाए / कसे जाएं गंदे फिकरे / किया जाए बलात्कार / सड़कों-चौराहों पर / सामने तुम्हारे / तब तुम्हें कैसा लगेगा?

वहीं ओमप्रकाश बाल्मीकि झाडूवाली अपनी प्रसिद्ध कविता में कहते हैं - जब तक रामेसरी के हाथ में / खडांग-खां बिसटती लौह गाडी है / मेरे देश का लोकतंत्र एक गाली है।

आज़ाद भारत में दलित भी वोटर है। लेकिन उसके प्रतिनिधि उसे ही लूट रहे हैं। बिहार का चुनाव एक बानगी है। जाति के नाम पर वहां आज भी राजनीति होती है। उत्तर प्रदेश में कभी दलित सर्मथित बहुजन समाजवादी को दलित की बहन समझकर कुर्सी पर बैठा दिया जाता है तो कभी यादव सर्मथित समाजवादी पार्टी को।

दलित साहित्य के फलक को अभी और विस्तार की जरूरत है। उसे भी भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, पूंजीवाद से लड़ना है। शत्रु स्थूल भी है और सूक्ष्म भी है। उसे अंबेडकर के तीन मंत्र को नहीं भूलना चाहिए संगठन की मजबूती, आर्थिक स्वावलंबन और शिक्षा। केवल ब्राह्मणों और सवर्णों के विरोध या गरियाने से स्थितियां नहीं सुधरेंगी। उसे सवर्णों के उन हथियारों की भी खोज करनी है, जिसके द्वारा वें हजारों साल तक शोषण की चक्की में पीसते रहें। एक दूसरे का रास्ता रोककर विकास नहीं हो सकता। न अपना, न समाज का और न ही देश का।

समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री

—प्रतिभा प्रसाद

समकालीन कविता अर्थात् हमारे अपने समय या काल से सम्बद्ध कविता। समकालीनता के दौर में सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन ने मानव समाज को सोचने पर मजबूर कर दिया। भूमण्डलीकरण, नवऔपनिवेशिक वातावरण तथा आर्थिक उदारीकरण ने समकालीन परिवेश को नये प्रश्नों के साथ हमारे समक्ष खड़ा कर दिया। ये प्रश्न थे स्त्री अस्मिता, दलित एवं आदिवासी वर्ग की पीड़ा को सही तरीके के साथ हमारे सामने रखना। समाज की भेदक नीतियों ने इन वर्गों को गुलामी की जिन्दगी जीने को मजबूर कर दिया। इन वर्गों मं अपनी अस्मिता अपनी पहचान तथा अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पाने की छटपटाहट एवं बेचैन स्पष्ट रूप से दिखने लगी। इन विमर्शों ने एक बार फिर इन वर्गों की पीड़ा को महसूस करने तथा उससे इनकी मुक्ति के लिए अपनी आवाज बुलन्द की।

समकालीन हिन्दी कविता स्त्री समाज की समस्याओं से अनभिज्ञ नहीं थी। स्त्री स्वयं को स्त्री की मानसिकता से मुक्त होने की जद्दोजहद में फँसी पाती है। वह स्वयं के बारे में न कभी कुछ सोचने को स्वतंत्र पाती है और न स्वयं के जीवन की दिशा ही निर्धारित कर पाने का सामर्थ्य रखती है। अपने को पाने की तीव्र इच्छा एवं जीजिविषा से लैश होकर वह समाज को आइना दिखना चाहती है। वह सड़ी-गली मान्यताओं, जड़ परम्पराओं के विरुद्ध अपनी असहमति जताती है। उनका पुरजोर विरोध करती है। उसके इस तेवर को विखंडनवाद का नाम दिया जाने लगा, जबकि स्त्री का संघर्ष स्वयं को मनुष्य सिद्ध करने का प्रयास है। न कि समाज को तोड़ने का हेय कृत है। प्रभा खेतान के शब्दों में - "नारीवाद और विखंडनवाद एक नहीं है, नारीवाद का संबंध स्त्री मुक्ति से है। यह एक राजनीतिक परियोजना है जबकि विखंडन एक दार्शनिक और साहित्यिक प्रक्रिया।"[1] (उपनिवेश में स्त्री, पृ.51) नारी को स्वयं के अस्तित्व को बचाने के लिए पुरुष समाज पर निर्भर रहना होता है। वह सामाजिक एवं मानसिक मुक्ति की आकांक्षी बनी रहती है। उसे देवी, माँ तो बना दिया गया परन्तु सहधर्मिणी, सहगामी बन पाना उसके लिए असम्भव सा बनता चला गया। वह अपने को चार दीवारों के बीच ही अत्यधिक

सुरक्षित पाती है। उसके पास न अपनी कोई सोच है और न अधिकार। वह स्वयं को दूसरों के कहे अनुसार संचालित करती रहती है। स्त्री की इसी बदतर स्थिति के विरुद्ध नारी मुक्ति का स्वर उभरकर सामने आया। रमणिका गुप्ता के शब्दों में "नारी-मुक्ति आंदोलन वास्तव में अभिव्यक्ति और निर्णय की स्वतंत्रता का आंदोलन है।"[2] मुक्ति की कामना प्रत्येक जीव में विद्यमान होती है। स्त्री अपने लिए वायवीय दृष्टिकोण को देखकर आहत हो उठती है। उसकी पीड़ा आज स्वर पाकर समाज को सोचने के लिए विवश कर रही है। हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं के माध्यम से स्त्री पीड़ा को स्वर प्रदान किया गया है। आधुनिक समय से ही स्त्री की पीड़ा को स्वर प्रदान किया गया। स्त्री के बदले स्वरूप ने अपने आकार ग्रहण कर नये-नये सवाल खड़े किए। सहजोबाई, दयाबाई, मीरा, महादेवी, सुभद्राकुमारी चौहान ने नारी के विविधगामी स्वरूप को हमारे समक्ष खड़ा कर दिया। समकालीन समाज की नयी चुनौतियों को अभिव्यक्त करती हुई हिन्दी कविता ने सबको सोचने के लिए मजबूर कर दिया। समकालीन दौर में स्त्री भले ही पर्दे से बाहर निकल रही हो, परन्तु उनकी समस्याएँ जस की तस बनी हुई हैं। उसके स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुए हैं परन्तु वह काफी नहीं है। आज की लड़की हॉकी खेलती है, परन्तु स्त्रीत्व उनका पीछा नहीं छोड़ती। कात्यायनी के शब्दों में - "देखने आये वर-पक्ष के लोग / पैर पटकते चले जायेंगे / बाबूजी घुस आयेंगे गरजते हुए मैदान में / भाई दौड़ता हुआ आयेगा / और झोंटा पकड़कर / घसीट ले जायेगा / अम्मा कोसेंगी - / किस घड़ी में पैदा किया था / ऐसी कुलच्छनी बेटी। /बाबूजी चीखेंगे - 'सब तुम्हारा बिगाड़ा हुआ है' / एक अँधेरे में / डूब जायेगा।"[3]

आज भी स्त्री विवाह एवं विवाह-पश्चात् घर छोड़ने को मजबूर है। जन्म लेने वाले घर में ताउम्र जिंदगी बिताना उसके लिए कलंक है। और दूसरे के घर अपनी नयी पहचान के लिए उसे वर्षों घोर यातना एवं उपेक्षा सहने के लिए तैयार रहना पड़ता है। उसके लिए नये-पुराने सब समान हो जाते हैं। अनामिका अपनी कविता 'बेजगह' में औरत के इस दर्द को बयां करते हुए कहती है – "घर छूटे, दर छूटे, छूट गए लोग-बाग / कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी छूटे।/ छूटती गई जगहें।"[4]

आज के समय में भी स्त्री उसी प्रकार संघर्षरत है, जिस प्रकार प्राचीन समय में। उसे सीमा में रहना सिखाया जाता है। यदि वह उस सीमा का अतिक्रमण करती है तो दुश्चरित्र, कुलच्छनी समझी जाती है। उससे सलीके की आशा की जाती है। सदचरित्रता की अपेक्षा उससे ही की जाती है, जबकि पुरुष कितने ही अनाचार, व्यभिचार करें, उसे इसके लिए समाज की उपेक्षा सहनी नहीं पड़ती है। वह पुरुषत्व के गौरव से सदा परिपूर्ण रहता है परन्तु स्त्री को इसके लिए तीक्ष्ण कटु वचनों तथा वारों को सहने के लिए तैयार रहना पड़ता है। गार्गी नामक कविता के माध्यम से कात्यायनी कहती है – "मत जाओ गार्गी, प्रश्नों की सीमा से आगे / तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा, जमीन पर, / मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना, /मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर / वह पुरुष है। / मत तोड़ो इन नियमों को।"[5]

समकालीन दौर में स्त्री की पीड़ा वहीं ठहरती है, जहाँ आज से शताब्दियों पूर्व उसकी स्थिति थी। वह स्वयं भूखी रहकर अपने बच्चों की भूख मिटाती है। सबका भार वहन करना जैसे उसकी पहली प्राथमिकता हो फिर भी उसे ही आग में जलना होता है। उसे ही अपनी पवित्रता साबित करनी होती है। आज की स्थिति आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर भी मानसिक स्वतंत्रता के लिए स्वयं से लड़ी जा रही है। उसकी लड़ाई दो स्तरों पर एक साथ चल रही है। एक बाहरी समाज से और दूसरा स्वयं की मानसिकता से। जिस दिन वह ऐसा करने में सफल हो जाएगी, उस दिन उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई भी समाप्त हो जाएगी। समकालीन कविता ने स्त्री मर्म को अभिव्यक्त करने में अपनी पूर्ण दक्षता दिखालाई है। ए. अरविन्दाक्षन के शब्दों में "नारी सुलभ व्यथा, पीड़ा, स्वप्न एवं आकांक्षाएँ समकालीन कविता की परिधि में जीवन्त हो जाती है।"[6] इस प्रकार समकालीन हिन्दी कविता ने अनेकानेक चुनौतियों के बीच भी स्त्री जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

सहायक ग्रंथ सूची –

1. प्रभा खेतान - उपनिवेश में स्त्री, सं-2010, राजकमल प्रकाशन, पृ.51
2. रमणिका गुप्ता-स्त्री विमर्श (आलेख) शिल्पायन (पत्रिका), दिल्ली, 2006, पृ. 70
3. कवि ने कहा-कात्यायनी, सं-2012, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, पृ.21
4. कवि ने कहा - अनामिका, सं-2012, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 12
5. कवि ने कहा - कात्यायनी, सं-2012, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, पृ.24
6. समकालीन हिन्दी कविता - ए. अरविंदाक्षन- सं- 2010, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 133

समकालीन कविता में स्त्री का वृत्तांत

—श्वेता वर्णवाल

'समकालीन' का अर्थ समय विशेष में साथ-साथ होना नहीं है, वल्कि इसका अर्थ है कि काल के इस खंड में मनुष्य की स्थिति क्या है? मनुष्य की वास्तविक स्थिति को देखकर ही समकालीनता को समझा जा सकता है। मधुरेश के अनुसार— समकालीन का अर्थ है कि समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए उससे उत्पन्न तनावों एवं चकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना। समकालीन रचनाकार वही हो सकता हैं जो अपने समय के सवालों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करता हो, या वह उन सवालों से टकराता हो जो परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न होते हैं। समकालीन कवयित्रियों ने शहर, गाँव, स्त्री आदि सभी मुद्दों पर लिखा है किन्तु सारी कविताओं के केन्द्र में मध्यवर्ग की पीड़ा है, जीवनबोध है—

पिटती अपमान सहती सिसकती / धीरे-धीरे। / अचानक किसी के आ जाने पर / जुकाम में सुड़कती नाक। / बाहर से सुखी संपन्न भीतर से टूटी-फूटी। / मध्य वर्ग की भली स्त्री / इतनी रीढ़हीन क्यों हो तुम। / सिमोन द बोउवार / तुम्हारी यात्राओं के नक्शे से कैसे अछूता रह गया मेरा देश / झिलमिला रहा था जिस रोशनी से सारा यूरोप।[1]

समकालीन कविता की हस्ताक्षर नीलेश रघुवंशी की उपर्युक्त कविता 'भली स्त्री' से यह साफ पता चलता है कि भारत की स्त्री की दशा बहुत ही खराब है। इसलिए वह यूरोप की अतिक्रांतिकारी रचनाकार सिमोन द बोउवार को याद करती हैं। फ्रांस की इस मशहूर स्त्रीवादी रचनाकार ने अपने दौर में अपने विचारों से समूचे यूरोप को हिलाकर रख दिया। नीलेश रघुवंशी भी अपनी कविता में उन्हें याद करती हुई कहती है "सिमोन तुम्हारी चेतना की आँच जब पूरी दुनिया में लपक रही थी तब के आँच हमारे तक क्यों नहीं आई।" इस प्रकार से हमारी समकालीन कवयित्री सामाजिक रूप से हो रहे शोषण का प्रतिरोध करती है।

यह तो तय है कि पुरुष सत्ता ने अपने फायदे के लिए तमाम तरह के मूल्य स्त्रियों के ऊपर आरोपित किये हैं। इस संदर्भ में प्रभा खेतान ने बहुत ठीक लिखा है -

"यह पुरुष सत्ता है, जिसकी ताकत, जो स्त्री पर इतरलिंगी व्यवस्था को आरोपित करती है। इसी व्यवस्था के माध्यम से पुरुष अपना शारीरिक, आर्थिक और भावनात्मक वर्चस्व स्त्री पर लागू कर पाता है। पितृसत्ता ने समलैंगिकता को स्त्री के लिए असंभव माना क्योंकि स्त्री कामना की व्याख्या भी पुरुष सत्ता ने अपने अनुसार की है। यानी पुरुष ने अपने इतरलिंगी यौन जीवन के अनुभव को स्त्री कामना के प्रसंग में स्त्री की इच्छा-अनिच्छा का सवाल ही नहीं उठाया।"[2]

यहाँ देखने वाली बात यह है कि समकालीन कवयित्रियाँ अपने वजूद के प्रति पूरी तरह से सजग है। अब उन्हें किसी भी पुरुषवादी झांसे से बहलाया नहीं जा सकता। आज की पढ़ी-लिखी स्त्री लगातार अपने कर्त्तव्य के प्रति जिम्मेवार नजर आ रही है और अपने अधिकारों के लिए निर्भीक होकर कहीं भी तनकर खड़ी हो जा रही है। जब नीलेश रघुवंशी भली स्त्री का जिक्र करती है तब न सिर्फ अपने पिछड़ेपन का जिक्र करती है बल्कि उस पिछड़ेपन में आशा की उम्मीद की तलाश करती है जिससे उन्हें भी मालूम हो कि हम भी सुबह की वेला में जी रहे हैं और हम अब वही स्त्री नहीं जिसको नाजुकी और कोमलता से नवाजा जाता रहा है-

"उसकी एकाध किरण आती हमारी भी छत पर / जान सकते हम भी सवेरा कब का हुआ। / प्राप्त करनी होगी मुक्ति नहीं मिली उपहारों में / खोली जो खिड़की तुमने बचपन में / खोल सके उसे हम आधी सदी गुजर जाने के बाद / काश हम भी शामिल होते तुम्हारी यात्रा में। / सौन्दर्य और नाजुकता को परे धकेलती / अरे सिमोन / अपनी उड़ान के पंख दिए होते हमें भी"[3]

समकालीन कवयित्री अपने ऊपर होने वाले सामाजिक शोषण का प्रतिरोध करती है। वह 'सौन्दर्य और नाजुकता को परे धकेलती' है और वह सिमोन से उसके लिए उड़ान के पंख की माँग करती है। समकालीन कवयित्रियों की कविताओं में स्त्रियों के ऊपर होने वाले तमाम तरह के चौतरफा शोषण का जिक्र आता है। जिसमें वह अपने वजूद की रक्षा के लिए खुलकर लड़ती है। उसका प्रतिरोध करती है। आज स्त्री चिंतन बहुत ही परिपक्वता की ओर आ पहुँचा है। इस चिंतन ने स्त्रियों के सामने एक चुनौती खड़ी कर दी है कि अब स्त्री को तय करना होगा कि वह किन मूल्यों, मानदंडों को अपनाएगी एवं कौन से मूल्य उसके लिए हितकारी होंगे। प्रसिद्ध स्त्रीवादी रचनाकार प्रभा खेतान अपने लेख 'स्त्री विमर्श : इतिहास में अपनी जगह' में लिखती हैं - "समकालीन स्त्री चिंतन का विषय है - स्त्री, उसका जीवन और उस जीवन के समस्याएँ। नारीवाद का सही उद्देश्य दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति ही है। यह भी स्त्री को सोचना है कि आने वाली शताब्दी में स्त्री अपने लिए कौन से नये पृष्ठ खोलेगी, किन सिद्धान्तों को अपनाएगी, कौन-सा नया चैनल, स्त्री मुक्ति के संघर्ष की विचारधारा को विकसित करेगा तथा उसे किस भाषा में अभिव्यक्त किया जाना चाहिए। यों तो स्त्री पर प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा है, वैचारिक परम्परा से उसने बहुत कुछ सीखा भी है, लेकिन ये सारे विचार पुरुष केन्द्रित एवं अमानवीय हैं, जिन्होंने बड़ी गहराई से स्त्री मानस का अनुकूलन

किया है।"[4]

समकालीन कवयित्री एवं उपन्यासकार प्रभा खेतान ने बड़ी ही दृढ़ता के साथ यह सवाल उठाया है कि अभी तक के जितने तर्क स्त्रियों के लिए दिये गये हैं वे तमाम तर्क अमानवीय हैं क्योंकि ये सारे तर्क पुरुषों के दिमाग की उपज है। और पुरुषवादी दिमाग स्त्री के लिए उस तरह से नहीं सोच सकता जिस तरह से एक स्त्री अपने हित के बारे में सोच सकती है। इस वेदना की कड़वाहट भरी तस्वीर मुक्ता ने अपनी कविता 'मरजीवा' में इस तरह पेश किया है -

"जिस नीम के नीचे वह खेली थी / बचपन में भाई के संग / कड़वाहट उतर आई थी भाई की आँखों में, / भाई के बगल में खड़े पिता के अंदर से / बोलने लगा था भाई - / घर की नींव पर खड़े भाई को / किसी चेहरे की जरूरत नहीं थी।"[5]

मुक्ता की उपर्युक्त कविता में साफ-साफ झलकता है कि सामाजिक स्तर पर पुरुषवर्चस्वशाली शक्तियों की वजह से एक स्त्री को कैसे अपनों के द्वारा ही समाज से विच्छिन्न कर दिया जाता है। दूसरी ओर समकालीन कवयित्रियों में बहुत ही जुझारू ढंग से अनामिका भी अपनी भावनाओं को व्यक्त करती है। उनका मानना है कि समाज का वह वर्ग जो शोषण कर रहा है उसके साथ-साथ उसमें स्त्री भी शरीक होती है वो भी पुरुष की हाँ में हाँ मिलाती है और पुरुष का सहयोग करती है।

"मेरी माँ / अक्सर ही सोते में / मुझको उढ़ा देती है चादर !/ डर लगता है उसको मेरी/ बेपर्दगी से / मुझे तो पता भी नहीं, / क्या मेरी नींद / मुझे बेपर्द करती है?/ बेपर्द करते हैं / मुझको मेरे ख्वाब?"[6]

अनामिका ने अपनी उपर्युक्त कविता 'चादर' में अपने स्त्री होने की एवं उसको सामाजिक तौर पर अलग ढंग से पेश करने की मानसिकता पर जोर देती है। जिसमें एक माँ अपनी बेटी के उघड़े बदन का पूरा ख्याल रखती है। स्त्री का थोड़ा-सा भी अंग दिखे यह हमारे समाज में ठीक नहीं माना जाता। क्योंकि स्त्री के ऊपर इतने तरह के मानदंड मढ़े गए हैं कि प्रत्येक आदमी उन्हीं मानदंडों में कसा हुआ स्त्री को देखना चाहता है।

प्रभा खेतान ने इस संदर्भ में एक बड़ी अच्छी बात कही है - "यह भी स्पष्ट था कि ऐसे किसी सुरक्षित आधारवाद के मोह में स्त्री को अब नहीं पड़ना चाहिए, वह हमेशा ठगी गयी है। स्त्री के सामने बिखरा हुआ समाजवाद है। वृद्ध पूँजीवादी जीवन की उपभोक्तावादी विभीषिका है। उत्तर आधुनिक स्थिति को निर्मित करने में ये सभी सहायक हैं। यानी सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् का कोई स्थायी आधार नहीं।"[7]

समकालीन कवयित्री अनामिका की कविताएँ सामाजिक प्रतिरोध करती हैं लेकिन इस ढंग से प्रतिरोध नहीं करती कि चोट बिल्कुल सामने से लगे बल्कि उनकी कविताएँ बहुत धीरे-धीरे असर करती है। जिसमें अन्ततः पाठक तिलमिलाए बगैर नहीं रह पाता। अनामिका की कविता 'चीख' ऐसी ही कविता है -

"ये किसी चीख की तरह पसरे हैं जंगल? / एक चीख मेरे भी भीतर दबी है! / उसका

बस चले अगर तो / मेरी पसलियाँ तोड़ती / निकल आए बाहर ! / ये चीख मेरी / आदिवासी रूपसी की तरह / अब तक किले के तहखाने में / टहल रही बेबस। / जंजीरें छूमछनन उसके पैरों की / जिस दिन भी टूटेगी-देखना- / बिन घुँघरू नाच उठेगा जंगल !"[8]

औरत के जिस्म को कुछ इस ढंग से समाज में समझा गया है और व्याख्यायित किया गया है कि इन सबका परिणाम स्त्री के अहित में ही जाता है। सामाजिक तौर पर समाजिकरण एवं स्त्री की पूरी बनावट को इंसानियत से काटकर अलग कर दिया जाता है और उसे बाजार में खरीद-बिक्री की वस्तु मान लिया जाता है। दुनिया का बहुत बड़ा बाजार स्त्री की देह को लेकर बना हुआ है। कला के क्षेत्र में भी स्त्री के मानसिक सौन्दर्य को काटकर अलग कर दिया गया है। स्त्री की इस खूबसूरत देह में एक खूबसूरत दिमाग भी होता है, इसको समाज एक सिरे से इग्नोर करता है जिसकी वजह से स्त्री को इसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ती है।

गौरतलब है कि इसी भारतीय संस्कृति की देन है कि एक तरफ स्त्री को दैवीय रूप माना जाता है और दूसरी तरफ वही स्त्री व्यवहारिक रूप में सिर्फ हाड़-मांस की बनी एक भोग्या। औरत के साथ एक बड़ी विडंबना यह है कि समाज ने उसे कुछ इस तरह के साँचे में ढालकर विकसित किया है कि वह जब भी उस ढाँचे से बाहर आने की कोशिश करती है तब उसे विद्रोही एवं समाज भ्रष्टक घोषित कर दिया जाता है। फिर भी आज की स्त्री इन तमाम मूल्यों का खंडन करती है। आज की तमाम समकालीन कवयित्रियों ने इस समूचे मूल्यों एवं मानदंडों के खिलाफ आवाज उठानी शुरू कर दी है। हमारे देश में यह नया नहीं है। समकालीन स्त्रियों से पहले भी भक्तिकालीन कवयित्री मीराबाई ने इन सभी सामाजिक प्रतिरोधों के खिलाफ अपनी आवाज उठाई थी और आज भी स्त्रियाँ समय-समय पर हो रहे सामाजिक अत्याचारों और प्रतिरोधों का विरोध कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. 'वसुधा' - स्त्री मुक्ति का सपना (विशेषांक), पृ. 149
2. हंस-2000, जनवरी-फरवरी, पृ.39
3. 'वसुधा' - स्त्री मुक्ति का सपना (विशेषांक), पृ. 149
4. हंस-2000 जनवरी-फरवरी, पृ. 36
5. मुक्ता, जाने क्यों बार-बार, पृ.29
6. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, पृ. 37
7. हंस-2000 जनवरी-फरवरी, पृ. 41
8. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, पृ. 43

समकालीन कविता में समाज व परिवेश

—रेशमी पांडा मुखर्जी

कुमार अम्बुज लिखते हैं "आज जब हिंदी समाज में, कवि की आवाज़, उस तरह विद्यमान नहीं है कि अधिसंख्य जनता उसे ध्यानपूर्वक सुन सके, उसकी उपस्थिति हाशिये में भी सिकुड़ती चली जा रही है, तब कवि की निष्ठा, पक्षधरता और दृष्टि-सम्पन्नता की बात करना, शायद अधिक प्रासंगिक है।"[1] देश की आर्थिक विषमता अपनी सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर चुकी है। एक वर्ग ऐसा है जिसके अच्छे दिन कभी समाप्त नहीं होते और एक वर्ग ऐसा है जिसने कभी अच्छे दिनों की परछाईं भी नहीं देखी। विश्व के विकसित देशों से एफ डी आई के झोंके बहे आ रहे हैं। मॉल संस्कृति की चमक उन्नति के पैमाने तय कर रहे हैं। सेंसेक्स के आंकड़े आर्थिक विकास का इंडेक्स बन रहे हैं। परंतु झोंपड़ी में रहने वाला अब उड़ान पुल के नीचे आसरा ले रहा हैं। बस्तियों में रहने वाले रेल की पटरियों से सटकर तंबू डालकर रहते हैं। गांव के कृषक शहरों में मजदूरी करने पर लाचार हो रहे हैं। कुटीर व गृह-उद्योग से जुड़े शिल्पी अब दिहाड़ी मजदूरों में तबदील हो रहे हैं। कवि विनोद कुमार शुक्ल लिखते हैं – एक आदमी लाखों आदमी की तरह दिखता है / करीब-करीब सब आदमी की तरह / वह लाखों आदमी की तरह भूखा होता है / सब आदमी की तरह भूखा / वह बहुत आदमी की तरह रोज दिखाई देता है / वह एक आदमी आज न दिखे तो समझना मर गया / जो पेट नहीं भर सका / उसकी जगह दूसरा दिखेगा लाखों की तरह / भूखे आदमी की जीवित रहने की पंगत लगी है।[2]

समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में दो महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य हैं - पहला यह कि कोई भी सफल व श्रेष्ठ कवि समय की गिरफत में रहकर नहीं लिखता। दूसरा तथ्य यह है कि कोई भी सजग कवि अपने समय व समाज से कटकर नहीं लिखता। समकालीन युग विसंगतियों व वैचारिक संघर्ष का युग है। परिस्थितियां कठिन से कठिनतर होती जा रहीं हैं।

ऐसी विडंबनापूर्ण स्थिति में कवि का दायित्व भी बढ़ गया है और उसका महत्व भी। कवि बहादुर पटेल 'शरणार्थियों की तरह' कविता में लिखते हैं – वे लोग निरीह और असहाय से दिखते हैं / विस्थापित भी नहीं हैं / गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन के सर्वे में उन्हें / मौसमी रोज़गार के लिए गमन करना दिखाया गया था [3]

आज संस्कृति के खंभे ध्वस्त होते जा रहे हैं। सांप्रदायिकता का बवंडर सहिष्णुता के सारे मापदंडों को उखाड़ रहा है। राजनीति और भष्टाचार का चोली दामन का साथ बन चुका है। जातिवाद ने वोट बैंक पर कब्जा जमा लिया है। आम आदमी को मनुष्य की कोटी से दर किनार कर दिया गया है। देश की आधी आबादी के प्रति समकालीन कवि पूर्णतः सजग है। कवि विनोद पदरज लिखते हैं – जो स्त्रियां आग ढूंढती हैं /वे ही स्त्रियां जल ढूंढती हैं।

इसी आग और जल से वे /सृष्टि में स्वाद रचती हैं / जिसमें उर्जस्वित होते हैं /योद्धा, योगी, वैज्ञानिक / लेखक और कलाकार /जो बाहर से जल होते हैं / और भीतर से आग। [4]

समकालीन हिंदी कविता देश की राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल की चिंता की मुखर अभिव्यक्ति है। राजनीतिक पटल पर बार-बार सरकारों का बनना-टूटना, देश की सांस्कृतिक छवि का क्षतिग्रस्त होना तथा विश्व की आर्थिक समस्याओं के चलते भारत के सामाजिक बिखराव को कवियों की संवेदनाओं ने बड़ी गहराई से स्पर्श किया है। किसानों की आत्महत्याएं, वेश्याओं की गिरती हालत से लेकर सांप्रदायिक आंधियों और राजनीतिक क्षुद्रता के घातक परिणामों को व्यक्त करने की पुरजोर कोशिश की गई है। 'सपना' कविता में कवि लाल्टू बच्चों की फटेहाल पसलियों का दर्द, सुरेश सेन निशांत की कविता जामुन में गांव के शहरीकरण की विडंबना, नरेश सक्सेना की कविताओं जैसे नीम की पत्तियां, मिट्टी में प्रकृति की चिंता व्यक्त की गई है।

समकालीन कविता जीवन के दर्द को व्यक्त कर रही है। समाज के विभिन्न तबकों के अंत:संघर्ष, जातिवाद व सांप्रदायिकता के झंझावात, गरीबी रेखा की कगार पर खड़े परिवार, सामाजिक सुधार की नीतियों की व्यर्थता की अनुगूंज भी कविताओं में व्यक्त हुई है। कुमार अंबुज के कविता संग्रह 'अमीरी रेखा' में वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, पूंजीवाद के विश्वव्यापी प्रभाव को पूरी एकनिष्ठा। से रेखांकित किया है। वैश्वीकरण पूरे विश्व को उपभोक्तावाद का महाबाज़ार बना चुका है। ग्लोबल गांव के नाम पर एक ऐसे वैश्विक गांव का निर्माण हो रहा है जहां गांव के गांव गायब हो रहे हैं। गांव नगरों और नगर महानगरों में तब्दील हो रहे हैं। पर्यावरण की धज्जियां उड़ाई जा रही हैं और पृथ्वी का संतुलन डांवाडोल हो रहा है। प्रदूषण की समस्या के प्रति सचेत हिंदी का कवि रचनाओं को और अधिक सामयिक व प्रासंगिक बना रहा है। कवि सौमित्र मोहन लिखते हैं – हिमालय पर छोड़े गए टनों कबाड़ के /

इस ऐतिहासिक दौर में / कई दिनों से उदास रहे एक पाठक ने /सज्जा विहीन सादे कमरे में बैठकर /कविता की पुस्तक का पन्ना /उंगली पर थूक लगाकर पलटा है।[6]

महेश चंद्र पुनेठा ने अपने कविता संग्रह में पहाड़ का वह जीवन जो सदियों से अवहेलित रहा, उसे अपनी कविता का विषय बनाया है। बदलते समय में पहाड़ जीवन के कुछ अनोखे संदर्भ उनकी कविताओं में उभरे हैं। वर्तमान जीवन पद्धति की घुटन और तकलीफ को शैलेय के कविता संग्रह 'तो' की कविताओं में महसूस किया जा सकता है। कवि इस जीवन की धारा पर प्रश्न टांकते हैं जो आज आम हो फिर भी उसकी विसंगतियां कवि के भाव प्रवण हृदय को गंवारा नहीं है। हरभगवान चावला ने अपने कविता संग्रह 'कुंभ से छूटी औरतें' में स्त्री जीवन के विविध शेड्स को रेखांकित किया है। उक्त संग्रह में कवि की प्रकृति व स्त्री के प्रति भावपूर्ण चिंताएं महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। समकालीन हिंदी कविता का युगबोध जबर्दस्त रूप से पाठकों को आकर्षित कर रहा है। केवल महानगरीय जीवन का चित्रण आज के कवि की चिंता के केंद्र में नहीं है। वह भारत के हर छोटे से छोटे शहर व कस्बे को अपनी कविता का विषय बनाने को तत्पर है। कवि विमल कुमार के शब्दों में - मैं तो धूप, हवा और पानी से मिलने आया था / तुमसे मिलने के बहाने / जो लगातार धीरे-धीरे कम होता जा रहा था / हम सबके जीवन में।[7]

2000 के बाद नए कवियों में व्योमेश शुक्ल, हरे प्रकाश उपाध्याय, कुमार वीरेंद्र, श्रीधर, उमा शंकर चौधरी, अनुज लुगुन, बलराम कांवट, अमित परिहार, गिरिराज किराड़ू जैसे कई प्रतिभावान कवि सामने आए हैं जिन्होंने कविता के क्षेत्र में असीम संभावनाओं को जन्म दिया है। आज कविता के क्षेत्र में कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, अनामिका, अनीता वर्मा, निर्मला गर्ग, किरन अग्रवाल, निर्मला पुतुल जैसी कई कवयित्रियां भी सक्रिय नजर आ रही हैं। इन रचयिताओं ने काव्य क्षेत्र में अपने जीवन के करीबी अनुभवों को स्थान दिया है। वे समाज में स्त्री के बराबर की हिस्सेदारी को ध्यान में रखती हुई कलम का सहारा ले रही हैं। समाज में पैंतरेबाजी व फरेब ने सामाजिक मूल्यों पर प्राणघातक हमला बोला है जिसके विरुद्ध कवयित्री की जुझारू प्रवृत्ति पाठकों को छू जाती है। केवल स्त्री ही नहीं समकालीन काव्य संसार को उर्वर बनाने में दलित, आदिवासी व अन्य पिछड़े हुए तबकों के कवियों का भी विशिष्ट योगदान है। आदिवासी व अन्य पिछड़े हुए तबकों को समकालीन कवि बराबर अपनी चिंता के केंद्र में रखता है। विनोद कुमार शुक्ल लिखते हैं - आदिवासी नाचते दिखते नहीं /नचाये जाते दिखते हैं / जो उनका घर है /उसमें वे रहते नहीं / वे दिखाने के घर हैं /उनका चूल्हा जल रहा है / यह उन्होंने नहीं जलाये /जलता हुआ दिखाने का है [8]

कुमार अनुपम के कविता संग्रह 'बारिश मेरा घर है' में मानवीय व अमानवीय संबंधों की बारीक छान-बीन की गई है। नरेंद्र जैन ने अपने कविता संग्रह काला सफेद में प्रविष्ट होता है

में महात्वाकांक्षा, लालसा व कामना की होड़ में दौड़ती आज की जिंदगी को कहीं थमकर सोचने पर बाध्य किया है। इनकी कविताएं भोगवादी अवधारणाओं पर चोट करती हैं। कवि ने बड़ी कठोर भाषा में जीवन और जगत विरोधी तत्वों को निशाना बनाया है। साथ ही उन्होंने देशज शब्दों जैसे खदकता, झुग्गी, अंगोछा, देगची, भात का खूबसूरती से प्रयोग किया है। मयस्सर, आबनूसी, खारिज, मुआफ, फिलवक्त जैसे उर्दू के शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। शंभु बादल का कविता संग्रह सपनों से बनते हैं सपने ने परिवर्तनवादी आकांक्षा को जीवट आशावादिता के साथ मुखर किया है। साथ ही उनकी अभिव्यक्ति का स्वर मार्मिक बन पड़ा है। उनकी कविताएं जीवन की कविताएं बन पड़ी हैं जहां लोक भाषा व लोक पदावली का सुरम्य प्रयोग हुआ है। कवि एकांत श्रीवास्तव ने 'धरती अधखिला फूल है 'नामक कविता संग्रह में आधुनिकता के टकराव, छिन्न-भिन्न हो रहे मानवीय संबंधों को उकेरा है। जनार्दन मिश्र ने 'मेरी एक सौ कविताएं' नामक संग्रह में जीवन के प्रायः हर क्षेत्र को वर्तमान संदर्भो में संस्पर्शित किया है। लीना मल्होत्रा लिखती हैं – रस्सी नहीं जानती थी/कि / वह महानगर में आ गई है /उसकी आंखों में तो पल रहा था / गंवई सपना/कि बुनी जाएगी एक अदद चारपाई में / जिस पर चढ़कर बच्चे कूदने लगेंगे/दादी उन्हें झूठमूठ का थप्पड़ दिखा कर / नीचे उतारने की ड़ांट लगाएंगी [9]

सच्चिदानंद विशाख के कविता संग्रह 'और थोड़ी दूर में' गांव-परिवार, गांव-जवार से लेकर संपूर्ण संसार के दुख-दर्द, विषाद व द्वेष को वाणी दी गई है। डॉ जयप्रकाश कर्दम ने अपने कविता-संग्रह 'वस्तियों के बाहर' में सामाजिक विसंगतियों के प्रति आक्रोश की आग व्यक्त की है। तुषार धवल लिखते हैं – विदुर सा खड़ा हूं /हस्तक्षेप में / हाशिये पर मेरी आवाज़ घुट रही है,/निजी प्रतिबद्धताओं से सम्मोहित / बेमतलब हैं /सभी योद्धा / सत्य बेचारा लाचार खड़ा है / आज भी /हस्तिनापुर में। [10]

मलय युग की त्रासदी और संत्रासजनक स्थिति का जायजा लेते हुए अपने भावों को शब्दों का जामा पहनाते हैं। आज की जिंदगी आपाधापी और भागदौड़ के कारण अपनी मूलभूत चेतना को खो रही है। अशोक कुमार पांडेय लिखते हैं - सब कुछ बदल रहा था इतनी तेज़ी से / कि अक्सर रात को देखे सपने भोर होते होते बदल जाते थे / और कई बार दोपहर होते होते हम खिलाफ खड़े होते उनके / हम जवाबों की तलाश में भटक रहे थे / सड़कों पर, किताबों में, कविताओं में / और जवाब जो थे वे बस सिगरेट के फिल्टर की तरह...[11]

इस व्यस्ततम जीवन में बुजुर्ग पीढ़ी को मात्र अवहेलना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिल रहा है। समाज को अपने कंधें पर ढोने वाली पीढ़ी जब अक्षम हो जाए तब उसकी उपेक्षा करना आज की सर्वाधिक निकृष्ट मनोवृत्ति का प्रमाण है जिसके प्रति सचेत समकालीन कविता

यथासंभव प्रतिकार का स्वर अपनाती हैं। कवि कैलाश वाजपेयी के शब्दों में - जहां सत्य शब्द का उच्चारण /अब केवल अर्थी ले जाने में होता है / गाली ही जहां अब एकमात्र भाषा है / ताश के पत्तों पर / अब जहां निर्माण होता है /और लोग / कागज पर मिनटों में फसलें गाते हैं /अब जहां घड़ियां / व्यक्तिगत सुविधा के अनुसार चलती हैं/और जहां पानी तक / शुद्ध नहीं मिलता है।[12]

आज का कवि शासन की निकृष्टतम प्रवृत्तियों पर क्रूरतम चोट करने से नहीं घबराता है। वह जानता है कि कविता में वह शक्ति होती है जो हर मिथ्याडंबर व छल-छद्म के कुहासे को काट सकती है। देश की मौलिक समस्याओं के प्रति चिंतित कवि बार-बार उनके प्रति पाठक का ध्यानाकर्षण करता है। कवि उदयप्रकाश लिखते हैं - राजसत्ता/ 'प्रजातंत्र' का प्रजापति है /और 'प्रजा' अगर 'तंत्र' से / टकराती है कभी /तो तंत्र की हिफाज़त में तैनात / बंदूक की नाल से/ बोलती है राजसत्ता- / कि सुनो मेरी प्यारी-प्यारी प्रजा/ तुम्हें तंत्र के भीतर ही / प्रजा होने का हक़ है / पुलिस और फौज / सचिवालय और न्यायालय/ कर्फ्यू और गोली / प्रजा और तंत्र के संबंधों की/ संवैधानिक व्याख्याएं हैं।[13]

मंगलेश डबराल के कविता-संग्रह 'नये युग में शत्रु' में युगीन यथार्थ को बिना लाग-लपेट के व्यक्त किया है। ममता किरण ने अपने कविता-संग्रह 'वृक्ष था हरा-भरा' में प्रकृति, परिवार, उल्लास, नारी-संवेदना आदि को जाग्रत किया है। कविता में प्रयोगशीलता अपेक्षित है। समकालीन कवि भी प्रयोगों के प्रति आकर्षित है।

प्रकृति की सुंदरता जहां कवियों को प्रिय है वहीं प्राकृतिक संतुलन को क्षति पहुंचाते उत्तर-आधुनिक मानव के घातक व विध्वंसकारी प्रहार भी समकालीन कवियों की चिंता का विषय बने हैं। अतः आज की हिंदी कविता जीवन की कविता है। समाज व मानव की चिंता व सरोकार की कविता है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि समकालीन कविता मनुष्यता की कविता है। मानव जीवन से सरोकार रखने वाले मुद्दों को इन कविताओं में प्रधानता मिली है। नए कवियों का तांता सा लग गया है। साहित्येतर क्षेत्र से जुड़े लोग भी कविता रचना में इच्छुक हैं। हिंदी कविता की सुदीर्घ परंपरा को जीवित रखने में, उसके प्रवाह में उत्तरोत्तर वृद्धि लाने में सक्रिय भागीदारी सराहनीय है।

संदर्भ-सूची

1. वागर्थ, मई-2015, अंक 238, पृ-16
2. पूर्वग्रह, भोपाल, अंक 138-139, जुलाई-दिसंबर 2012, पृ-101

3. समावर्तन, उज्जैन, जुलाई - 2014, पृ- 56
4. वागर्थ, अक्तूबर-2014, अंक 231, पृ 82
5. पूर्वग्रह, भोपाल, अतिथि संपादक- कृष्णदत्त पालीवाल, अंक 133, अप्रैल-जून 2011, पृ-57
6. वागर्थ, जून-2015, अंक 239, पृ-79
7. वागर्थ, मई 2011, अंक 190, पृ 102
8. पूर्वग्रह, भोपाल, अंक 138-139, जुलाई-दिसंबर 2012, पृ-100
9. तद्‌भव, लखनउ, अक्तूबर-2015, पृ-75
10. साहित्य अमृत, नई दिल्ली, जुलाई- 2014, पृ- 56
11. तद्‌भव, लखनउ, अप्रैल-2013 , पृ-110
12. साहित्य अमृत, नई दिल्ली, मई- 2015, पृ-55
13. उदयप्रकाश, अबूतर कबूतर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005, प्रथम पृ-71-72

की भावना से मुँह नहीं मोड़ती।"

समकालीन कविता की चिंता अलग है। इस बदले हुए चिंता और मिजाज के मूल में वे परिस्थितियाँ और परिवेशव्यापी उठा-पटक है जिससे प्रेरित होकर कवियों ने कलम चलाई है। 'समकालीन कविता के स्वरों में मोहभंग, अस्वीकार, आक्रोश, व्यंग्य, यथार्थ जीवन का सीधा साक्षात्कार, जीवन के जटिल प्रसंगों, संघर्षों की अभिव्यंजना, साहसिकता, खरापन, तनाव, छटपटाहट, अविश्वास, ऊब, मूल्यहीनता और बेलौस सपाटबायनी पूर्वापेक्षा अधिक है। पूर्वापेक्षा अधिक कहने के पीछे हमारी यह धारणा है कि ये सभी स्वर नयी कविता में थे तो, किन्तु बदले हुए परिप्रेक्ष्य की कविता में यह सब-के-सब प्रमुख हो उठे हैं। समकालीन कविता का आविर्भाव नयी कविता के दौर का समाप्त हो जाना नहीं हैं, अपितु उसके ही कतिपय संदर्भ-स्वरों का व्यापक स्तर पर ईमानदार प्रस्तुतीकरण है। चूंकि मानव स्थिति की समझ और पहचान काफी गहरी होती है। जिसको समकालीन कविता बड़ी बारीकी से पकड़ती है। जिसमें मानवीय संबंधों में आई कृत्रिमता, बेरुखी भी चित्रित हुयी है। दूधनाथ सिंह ने लिखा है – "यह वह कविता नहीं है / यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है/ यह केवल रस नहीं / जहर है जहर।" समकालीन कविता में जो पहली बात सामने आती है कि वह रोमानी या छायावादी संस्कारों से मुक्त होती है। नयी कविता नवीन तो थी, यथार्थ तो थी और परिवेश से प्रतिबद्ध भी थी, किन्तु एक सीमा तक छायावादी भाव चेतना को अपने में समेटे हुए थी। उसमें छायावादी रोमांस किसी-न-किसी रूप में बराबर जिन्दा रहा है. समकालीन कविता में यह नहीं है। समकालीन कवियों ने उस खिड़की को ही बन्द कर दिया जहाँ से सौंदर्य के वे बिम्ब दिखाई देते हैं, जो छायावादी परंपरा से जुड़े हैं। समकालीन कविता समाज की मृत मान्यताओं, टूटती हुई परम्पराओं और मोहभंग की कविता है। उसमें आज की विकृत जिंदगी और संबंधों की खींच-खरोंच व्यक्त हुई है। मोहभंग की जोड़ावृत्ति समकालीन कविता में उपलब्ध है, उसे समकालीन परिवेश की तल्खी से उत्पन्न प्रतिक्रिया माना जा सकता है। धूमिल की निम्नांकित पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखित कर सकते हैं – "मैंने इन्तजार किया / अब कोई बच्चा भूखा रहकर / स्कूल नहीं जायेगा। / अब कोई छत / बारिश में नहीं टपकेगी / अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा / कोई किसी को नंगा नहीं करेगा। / मैं इन्तजार करता रहा / मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया / मेरा सारा धीरज युद्ध की आग से, / पिघलती हुई बर्फ में बह गया।"

मोहभंग की यही स्थिति लीलाधर जगूड़ी की कविताओं में भी मिलती है रघुवीर सहाय में भी उपलब्ध है और 'राजकमल' जी तो यहाँ तक लिख गये हैं – "आदमी को तोड़ती नहीं है / लोकतांत्रिक पद्धतियाँ / केवल पेट के बल / उसे झुका देती हैं / धीरे-धीरे अपाहिज बना लेने के लिए।"

आठवें, नवें और दसवें दशक में लिखी गई कविता जीवन से सीधा साक्षात्कार करती है। इन दशकों में जो कविता लिखी गई हैं, उसमें उत्तेजना, खीझ, असंतोष, निराशा और कड़वाहट का स्वर बहुत अधिक है। आज का कवि जब मनुष्य को दुहरी जिन्दगी जीते हुए देखता है तो

समकालीन कविता की संघर्षशीलता

–रमेश यादव

साठोत्तर वर्षों में कविता तूफानी दौर से गुजरी है और इस आन्दोलनात्मक तूफानी प्रवाह में कितने ही कवि बह गये - कितने ही ढह गये और बहाव के पानी के उतर जाने के बाद सूखे रेत से बचे कितनों का नामलेवा भी कोई नहीं रहा। पिछले दशकों में कुकुरमुत्ते की तरह बढ़ती भीड़ कविता की असलियत को भुलाकर नामों का उत्सव मनाती रही है और उत्सव में चमक-दमक अधिक होती है, प्रदर्शन-शोरगुल अधिक होता है असलियत कम। अधिकांश साठोत्तर कवियों ने शोर अधिक किया है, कविता को आन्दोलनों से जोड़कर नाम अधिक उछाले हैं और अर्थवान कविताएं कम लिखी गयी हैं। फिर भी उनके बीच से ही समकालीन कविता संघर्ष करती आगे बढ़ती है। सातवें दशक के पश्चात् जो कविता लिखी गयी, उसे 'समकालीन कविता' नाम मिला। आठवें दशक में कविता के अन्तर्गत विद्रोह अस्वीकार, निषेध, सपाट बयानी जैसे प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आईं। राजनीतिक चेतना से पूरित कविताएँ लिखी जाने लगीं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि समकालीन कविता के अंतर्गत भी कई दर्जन कवि हमारे सामने आ गये। जैसे - श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, मलयज - श्याम - विमल, लीलाधर जगूड़ी, बलदेव वंशी, प्रयाग शुक्ल, चन्द्रकांत देवताले, विनय, विश्वम्भर उपाध्याय, नंद किशोर आचार्य आदि। वास्तव में 'समकालीन कविता' वह है जिसमें पूर्णतः कल्पित, आरोपित और अद्वितीय की तलाश नहीं की गयी है, वरन् जो सामने है, और जो रहा है उसे ही रचनात्मक स्तर पर खुलासा करके कहा गया है।

इस समकालीन कविता के साथ-साथ चलते हुए हम वर्तमान को देख-समझ सकते हैं और पा सकते हैं। उस परिदृश्य को जिसमें जीते-मरते, लड़ते-झगड़ते, बौखलाते-बिसरते, तड़पते-कसकते और हर ठोकर पर एक जोड़ी दर्द को गाँठ बाँधते, किंतु फिर भी जीते आदमी की 'एक्सरे प्लेट्स' है। परिवर्तन की चोट सहकर लिखी गई यह कविता न केवल कविता है, अपितु एक ऐसी बही है जिसमें हर आदमी जाने-अनजाने कोई-न-कोई रूप से जुड़ता रहा है। मैनेजर पाण्डेय ने उक्त संदर्भ में लिखा है – "समकालीन कविता कभी भी उम्मीद और संघर्ष

वह साक्षात्कृत परिवेश के प्रति अपनी प्रतिबद्धता सूचित करता है। यह प्रतिबद्धता और कुछ नहीं, कवि की सचेत दृष्टि द्वारा परिवेश का सही ग्रहण ही है और यह समकालीन संदर्भों और स्थितियों से सीधा साक्षात्कार है। केदारनाथ सिंह, मलयज, प्रयाग शुक्ल आदि की कविताओं में इस स्थिति को देखा जा सकता है।

समकालीन कविता आक्रोश और विद्रोह की भावना से पर्याप्त अहमियत रखती है। भारतीय समाज में व्याप्त जड़ता, निष्क्रियता, विसंगति और विडम्बनाओं के कारण समकालीन कविता आक्रोशमूलक और विद्रोहपरक हो गयी है। विद्रोह और आक्रोश का यह स्वर बलदेव वंशी, वेणु गोपाल, लीलाधर जगूड़ी, विष्णु खरे, श्याम विमल और राजेश जोशी आदि की कविताओं में देखा जा सकता है - वर्तमान परिवेश में जो स्वार्थान्धता, भ्रष्टाचारिता और आपाधापी व्याप्त है उसको अनुभव के दायरे में बाँधते हुए समकालीन कवियों ने ऐसे तीखे व्यंग्य किये हैं कि उनसे अन्तस् की एक-एक परत छिल जाती है। रघुवीर सहाय की ये पंक्तियाँ देखिए -

संसद एक मंदिर है / जहाँ किसी को द्रोही नहीं कहा जा सकता / दूध पिये मुँह पोछे आ बैठे / जीवनदानी, गोंदवानी, सदस्य तोंद सम्मुख धर / बोले - कविता में देश-प्रेम लाना, हरियाना-प्रेम लाना / आईसक्रीम खाना है।"

समकालीन कविता की एक प्रवृत्ति राजनैतिक संदर्भों से साक्षात्कार है। मुक्तिबोध से शुरू हुई यह स्थिति श्रीराम वर्मा, रमेश गौड़, श्रीकांत वर्मा और लीलाधर जगूड़ी आदि कवियों तक ही सीमित नहीं रही है, इसे हम नवें और दसवें दशक के युवा कवियों में भी देख सकते हैं। श्याम विमल की ये पंक्तियाँ देखिए - "मेरे इस देश में हर बार / वही होता है वही / कि आदमी के कद का जो नेता है / आदमी अपने पेट में कछुआ बोता है।"

समकालीन कविता में बदलते मूल्यों की चिंता

—सुलोचना दास

समकालीन हिंदी कविता अपने समय के तमाम अंतर्विरोधों और अंतर्द्वंद्वों को बारीकी से पहचानती है। वह जानती है कि अन्याय और अत्याचार का रूप क्या है और क्यों है? इसलिए वह कल्पित के लिए संघर्ष नहीं करती, वरन् वह उसके लिए चिंतित है जो समय के विपाक्त प्रवाह में तेजी से क्षरित होता जा रहा है। आज का समय अन्यायों और आशंकाओं से भरा अत्यंत दुःखदायी समय है। इस समय में संवेदनाएं छीज रही हैं। भावनाएं विगलित हो रहीं हैं। हृदय टूट कर बिखर रहा है। कृत्रिमता हावी हो रही है। मनुष्य वस्तु में तब्दील होने को विवश है। दया, प्रेम, करुणा, सौहार्द्र, त्याग, अपनत्व, ममत्व, बंधुत्व, भ्रातृत्व, क्षमा जैसे मानवीय मूल्य लुप्त प्राय हो गए हैं। 'बसुधैव कुटुम्बकम', 'अतिथि देवो भवः', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः। सर्वे सन्तु निरामयाः।। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत।।' की गरिमा धूमिल हो गई है। दो टुक शब्दों में कहें तो वर्तमान समय मूल्यहीनता का समय है। इस समय की विडंबना पर समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि केदारजी की बड़ी धारदार अभिव्यक्ति है- श्रोता कब के उठ गए, पाठक चले विदेश / कवि जी आओ घर चलें, रैन भई एहि देश।[1]

समकालीन हिंदी कविता ऐसे भयावह परिदृश्य में न केवल अपने समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलती है, वरन् उनसे उत्पन्न तनावों और द्वंद्वों से टकराती हुई एक ओर समसामयिक समाज के विघटित मूल्यों के प्रति चिंता व्यक्त करती है तो दूसरी ओर अपनी सृजनशीलता द्वारा भारतीय मूल्यों की रक्षा का प्रयास भी करती है। वह दम तोड़ती मनुष्यता को, उसके भीतर की करुणा को और उसकी अस्मिता को बचाने का प्रयत्न करती है। बाजार, पूंजी, उपभोक्ता, धर्म, अर्थ और बाहुबल पर आधारित राजनीति, भूमंडलीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी और मीडिया की सांठ-गांठ की पूरी खबर समकालीन कविता को है। वह जानती है कि बाजार आज का सर्वभूत यथार्थ और सबसे बड़ी त्रासदी है। बाजार के छद्म से बचना संभव नहीं है। उससे दो-दो हाथ करना ही होगा। इसलिए केदारजी का यह कहना अनायास नहीं है कि - कलम छोड़ दो मेज़ पर, काग़ज़ रख दो द्वार / सारी दुनिया जा रही, कवि जी चलो बज़ार।[2]

बाजार वह सत्ता है जिसके बिना आज का जीवन दुर्लभ सा प्रतीत होता है। मुनाफा बाजार का केंद्रीय मूल्य है। इस मुनाफे को कमाने के लिए वह कुछ भी बेच सकता है- मनुष्य, संबंध, सपने- कुछ भी। हाट या बाजार की व्यवस्था मानव जीवन को सहज व सुविधायुक्त बनाने की दृष्टि से की गई थी। बाजार के लिए पूंजी महत्वपूर्ण है, मनुष्य नहीं। इसलिए वह मानवीय अस्मिता तक को वस्तु में तब्दील कर डालता है, ताकि उसकी खरीद-फरोख्त हो सके। वह माता और पुत्र के संबंधों को भुनाता है, जिससे उसके द्वारा उत्पादित दूध आदि की बिक्री वैश्विक स्तर पर हो। बाजार की दृष्टि में संबंधों का कोई मूल्य नहीं होता, बल्कि मानवीय संबंधों में मूल्यहीनता बाजार की सबसे बड़ी ताकत है। वह मानवीय आकांक्षाओं और सपनों को हथियार बनाकर अपने उत्पाद की बिक्री करता है। इस दारुण स्थिति पर समकालीन कविता की चिंता है- सबसे खतरनाक है सपनों का बिक जाना / महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं / क्रांतिकारी गीतों को बना सकते हैं पॉप सांग / बेच सकते हैं एक साथ बन्दे मातरम् और कोलगेट की मुस्कान।[3]

आज के उत्तर-आधुनिक बाजार में वही टिक सकता है जो बिकाऊ हो और जो बाजार के योग्य नहीं उसे उठा कर फेंक दिया जाता है। दो टूक शब्दों में 'यूज एंड थ्रो' बाजार की नीति है। बाजारवाद के निहित स्वार्थपरक मूल्यों के संदर्भ में युवा कवि जितेंद्र श्रीवास्तव की चुटीली व्यंजना है- श्री मनमोहन सिंह वित्त मंत्री बन चुके थे भारत सरकार में / बदल रही थी भारत की अर्थनीति / उदारीकरण की हवा चल चुकी थी / वसंती हवा की वेशभूषा में / जल चुका था दीया भूमंडलीकरण का मद्धिम-मद्धिम / भारत लुढ़कने लगा था / मुक्त बाजार की खायी की ओर / बढ़ गयी थी उसकी चहलकदमी विश्वबैंक के गलियारे में।[4]

बाजारवाद से उपजी उपभोक्ता संस्कृति ने आज शहरों की अस्मिता को पूरी तरह से लील लिया है। बाजार वस्तुओं को बेचने के लिए पहले आदमी को अपना गुलाम बनाता है और फिर कुछ समय पश्चात आदमी खुद वस्तु में तब्दील हो वस्तु का गुलाम बन जाता है। आज वस्तुस्थिति ऐसी हो गई है कि चीजें मूल्यवान हो उठीं हैं और आदमी फालतू और बेमूल्य। चीजें लोगों को आपस में बांट रहीं हैं। काट रहीं हैं। अपनी कीमत से छोटा और बड़ा बना रहीं हैं। इस त्रासदी से चिंतित हो राजेश जोशी लिखते हैं- चीजें एक दिन इतनी ताकतवर हो जाती हैं / कि बनती जाती हैं उनकी स्वतंत्र सत्ता / तब आदमी नहीं चीजें तय करने लगती हैं / आदमी का भाग्य।[5]

आज के युग की कैसी विडंबना है कि जिन चीजों को जिस मनुष्य ने बनाया, आज वही उसकी कठपुतली बन गया है और उसकी डोर बाजार के प्रभुओं के हाथों में है। इसलिए केदारजी साफ-साफ शब्दों में कहते हैं- यह बाजारों का समय है।[6]

आज पूंजी, बाजार और बहुराष्ट्रीय कंपनियां आदमी के खिलाफ नित नए-नए षड्यंत्र रच रही हैं। भूमंडलीकरण, भूमंडीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नई आर्थिक नीतियों के स्वीकार से नए साम्राज्यवाद की राह आसान हुई। देखते-देखते देशी उत्पादों का विदेशीकरण

होना प्रारंभ हो गया और भारतीयता दम तोड़ने लगी। पाश्चात्यीकरण केप्रभावस्वरूप देशी उद्योगों केस्थान पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी साख जमा ली। परिणामतः बहुतेरे बेरोजगार हो गए। उनके हाथों के स्थान पर मशीनें तैनात कर दी गईं। इस विकट स्थिति को संकेतित करती कविता है 'एक था घर और एक सिनेमाघर'। कविता की बानगी देखिए- तब धीरे से बोले वे / कोई साल भर हुआ बंद हुए सिनेमाघर / मेरी रोजी भी मारी गयी इसी के साथ / अब तो घर चलाना भी भारी हुआ जाता है / सुना है कुछ और खुलेगा यहां / जगमगाएगी इमारत / मुनाफा उगलेगी मालिकों की जेब में / लेकिन भाई साहब, पता नहीं तब / आने वाले साहब लोग पान खाएंगे कि नहीं ![7]

समकालीन कविता बाजार से उपजी उपभोक्तावादी मूल्यों के प्रति चिंतित ही नहीं है, बल्कि उसका विरोध भी करती है। वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की 'विकास कथा' और 'खुलेपन में पहिया' जैसी कविताएं एक ओर वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की विडंबनाओं का चित्रण करती हैं तो दूसरी ओर 'कुदाल' और 'कुएं' जैसी कविताएं श्रममूल्य के अर्थहीन होते जाने पर चिंता व्यक्त करते हुए प्रश्नवाचक मुद्रा में तनकर खड़ी हो जाती हैं। मॉल कल्चर, डिब्बाबंद कल्चर और मशीनी संस्कृति के हावी होने के कारण एक ओर देशी उद्योग ठप्प पड़ते जा रहे हैं तो दूसरी ओर श्रम संस्कृति का भी अवमूल्यन हो रहा है। समकालीन कविता मौजूदा समय में आसन्न आर्थिक-मूल्य-संकट पर सीधे-सीधे प्रश्नचिह्न लगाती हैं। वे उपभोक्तावाद के प्रभुओं से पूछती हैं कि इस देश के खेतिहर किसानों और मजदूरों का क्या हो? वे इस स्थिति पर तीक्ष्ण आक्षेप करते हुए कहती हैं- और अब कुदाल है कि एक चुपचाप चुनौती की तरह / खड़ी है दरवाज़े पर / सोचता हूं उसे वहां से उठाकर / ले आऊं अंदर/ और रख दूं किसी कोने में / ड्राइंग-रूम कैसा रहेगा- / मैं सोचता हूं / न सही कुदाल / एक अलंकार ही सही / यदि वहां रह सकती है नागफनी / तो कुदाल क्यों नहीं?[8]

आज बाजारों और दलालों का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो चुका है। भूमंडलीकरण की मंशा- विश्व को एक बाजार में तब्दील करने की लगभग पूरी हो चुकी है। बाजारीकरण की इस प्रक्रिया ने आदमी के साथ-साथ पर्यावरण को भी हाशिए पर धकेल दिया है। बाजार के सुरसा बनते जाने के कारण प्रकृति का फैलाव सिमटता जा रहा है। पेड़, पौधे, नदी, पर्वत, पहाड़, समुद्र आदि आधुनिक सभ्यता से लुप्त होते जा रहे हैं। एक तरह से प्रकृति और मनुष्य का संबंध टूटता जा रहा है। हम प्रकृति से दूर हो प्राकृतिक बनस्पतियों, औषधियों, यहां तक कि अपनी आदिम धरोहरों से भी दूर हो गए हैं। इस भयानक स्थिति से अत्यंत चिंतित हो समकालीन कविता कहती है- दुख रही हैं धरती की बूढ़ी पसलियां / फटा जा रहा है आसमान का माथा / उड़ाओ गिद्ध को उड़ाओ / बचाओ हो सकेतो बचाओ, / इस दुनिय को! / समय की खल्वाट खोपड़ी में पल रहा है / एक भयानक विचार ![9]

पर्यावरण-संकट आज के कवियों की एक प्रमुख चिंता है। पर्यावरण का संबंध मानव-जीवन से है। इस अर्थ में पर्यावरण का विनष्ट होना मानवता का विनास होना है। प्रकृति

अनादिकाल से मानव की सहचरी रही है। किंतु आज कृत्रिमता केआवरण में ढ़ंका मनुष्य स्वयं ही अपनी जड़ें काट रहा है। इस त्रासद स्थिति पर कवि अरुण कमल की चिंता है- हर नदी का घाट शमशान / हर बगीचा कब्रिस्तान / बन रहा है / और हम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं।[10]

पर्यावरणीय चिंता से केवल केदारनाथ सिंह, अरुण कमल और राजेश जोशी की पीढ़ी के रचनाकार ही चिंतित ही नहीं हैं। वरन् आज के युवा और युवतम कवि भी इसके प्रति सजग और सचेत हो रहे हैं। एकांत श्रीवास्तव, जितेंद्र श्रीवास्तव, कृष्णमोहन झा, स्वप्निल श्रीवास्तव, विनोददास आदि कवि भी डालियों के कट जाने की व्यथा, निर्मूल होने की पीड़ा और नदियों के सूखने का दर्द महसूस कर रहे हैं।

दूसरी ओर भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार किसानी संस्कृति का अवमूल्यन आज भारतीयता के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन गई है। आए दिन किसान मर रहे हैं। आत्महत्याएं कर रहे हैं। वास्तव में किसानों का मरना आत्महत्या नहीं हत्या है। हत्यारे हैं औद्योगिक सभ्यता। मल्टीनेशनल कंपनियों द्वारा स्थापित मूल्यों के कारण आज हमारे खेतिहर किसान, मजदूर दम तोड़ने को बाध्य हो रहे हैं। इसलिए 'फसल' कविता में केदारनाथ सिंह कहते हैं- अब यह हत्या थी / या आत्म-हत्या / यह आप पर छोड़ता हूं / क्योंकि अब तो वह सड़क किनारे / चकवड़ घास की पत्तियों के बीच पड़ा था / और उसके होठों में दबी थी / एक हल्की सी मुस्कान / उस दिन वह खुश था।[11]

बाजारवाद के बढ़ते वर्चस्व के कारण आज 'घर' और 'परिवार' की संकल्पना भी लुप्त प्राय होती जा रही है। भूमंडलीकरण और उसकेपिछलग्गू केवल अर्थ-संस्कृति पर ही हमला नहीं करते, बल्कि वे सामाजिक और पारिवारिक मूल्यों पर भी आक्रमण करते हैं। आज हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को पूर्णतः धता बता दिया गया है। संवेदनशीलता, दया, करुणा, प्रेम, समर्पण, अहिंसा, त्याग प्रभृति मूल्य अनुपयोगी घोषित हो रहे हैं। इसी मूल्यहीनता की परिणति है कि आज व्यक्ति और उसके संबंधों से ऊंचा उसका स्टेटस हो ग्या है। आज वैश्वीकरण, मुक्त बाजार, उदार अर्थ नीति, नई प्रौद्योगिकी और सूचना-संचार की क्रांति ने सामाजिक और मानवीय संबंधों में एक नई उथल-पुथल पैदा की।[12] फलतः संपन्नता सामाजिक संबंधों की आधारशीला बन गई। यहां तक कि समान स्टेटस वाले मित्रों की सूची भी मोबाईल फोन तक ही सीमित रह जाती है, ताकि जब जरूरत पड़े उनसे संपर्क साधा जा सके। इस तरह संबंधों की गरमाहट में आयी कमी पर चिंता व्यक्त करते हुए जितेंद्रजी लिखते हैं- फोन का नेटवर्क / निर्भर है मशीनों पर / होता ही रहता है जाम / आए दिन / पर फोन नही है जीवन/ फिर कैसे हो जाता है जाम / रिश्तों का नेटवर्क / कैसे भुला देते हैं लोग / अपने कंधे पर / कभी किसी के रखे प्यार भरे हाथ को / किसी आंखों में उमड़े दुलार को।[13]

सामाजिक संबंधों में आयी शिथिलता के कारण आज का आधुनिक मानव अपनी आत्मा से भी विस्थापित होता चला रहा है। आत्म-विस्थापन की यह पीड़ा केदारजी की कविताओं में

एक नया बोध पैदा करती है, जिससे अधीर हो वे प्रश्न करते हैं- पर किस तरह मिलूं / कि बस मैं ही मिलूं / और दिल्ली न आए बीच में[14]

तो दूसरी ओर समकालीन कवयित्री कात्यायनी इससे उबकर खुले मैदान में जाना चाहती हैं, जहां मानुष-गंध हो, आशा-गंध हो। इसलिए वे कहती हैं- कहाँ चले खुसरो? / यह जो रैन अंधियारी / फैली है चहुँ ओर / यह हमारे घरों के भीतर तक / पैठी हुई है। / यह अंधेरा हमारे दिलों में / गहरे उतर चुका है। / इस निचाट मैदान में / खुसरो, / कम से कम खुली हवा तो है! / घरों में तो बेगानगी का दमघोटू माहौल है।[15]

कात्यायनी की काव्य-पंक्तियों से स्पष्ट है कि अब पारिवारिक मूल्यों का भी कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। उत्तर-आधुनिक सभ्यता में 'घर' नहीं, फ्लैट और कॉटेज बन रहे हैं, जिनमें परिवार नहीं, लोग रहते हैं। फ्लैट ईंट, पत्थर, सीमेंट, मारवल, टाइल्स आदि से बनता है जबकि घर प्रेम, अपनत्व और संबंधों की मधुरिमा से बनता है। स्नेह की फुलवारी का नाम है घर किंतु आज के पूंजी केंद्रित मूल्यों के कारण घर और परिवार टूट कर बिखर रहे हैं। माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची, दादा-दादी, मामा-मामी तथा अन्य समस्त संबंध जरूरत के संबंधों में तब्दील हो गए हैं। आज परिवार में संबंधों का नाम लेन-देन है। आज का परिवार 'फेमिली' में सिमट गया है। यानी पति, पत्नी और बच्चे। उन्हे 'स्व' से सरोकार होता है 'पर' से नहीं। मध्ययुग में तुलसी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा हेतु राम और राम परिवार के माध्यम से गार्हस्थ जीवन के जिस आदर्श को प्रस्तुत किया था, वह अब निर्मूल हो चुका है। एक परिवार में रहने वाले सदस्य एक साथ रहते हुए भी एक दूसरे से अपरिचित रहते हैं। बस ईंट-पत्थरों से बने मकान में अपनी जरूरतों के लिए साथ-साथ रहते हैं। उनमें न तो आपसी सद्भाव होता है और न ही सहयोग की भावना। वर्तमान जीवन में व्याप्त एकल परिवार की संकल्पना इसी मूल्यहीनता की परिणति है। ऐसे परिदृश्य में भारतीय संस्कृति की सम्मिलित परिवार शैली की संकल्पना एक यूटोपिया बन कर रह गई है। समकालीन कविता पारिवारिक मूल्यों में आए इस बदलाव से अत्यंत दुखी है। इसलिए वह 'संयुक्त परिवार' जैसी कविताओं के माध्यम से घर और परिवार के टूटने की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहती है- टूटने की प्रक्रिया में क्या क्या टूटा है / कोई नहीं सोचता।[16]

आज का मनुष्य इतना व्यावहारिक हो गया कि उसके पास बेकार के संबंधों के लिए समय ही नहीं बचता। यही कारण है कि आज घर में वृद्धों के लिए जगह नहीं होती है। सुशिक्षित बच्चे अपने जीवन को उन्नत और सुखमय बनाने की भागमभाग में अपने वृद्ध माता-पिता को घर से निकाल देते हैं या उन्हें ओल्ड एज होम में भेज देते हैं और बड़ी आसानी से भूल जाते हैं उनके स्नेह सिंचित उपकारों को। जिनके हाथ हमेशा अपने बच्चों को आशीर्वाद देने के लिए उठे, उन्हें ही अपने बच्चों से मार तक खानी पड़ती है। मानव-जाति की यह केकड़ावृत्ति आज की सबसे त्रासदायक मूल्यहीनता है। इसलिए अरुण कमल पीड़ा भरे स्वर में कहते हैं- गंगा बहुत दूर चली गई है घाट से।[17]

इसी कारण अब 'बसुधैव कुटुम्बकम' और अतिथि देवो भवः' जैसे सांस्कृतिक मूल्य भी धराशायी हो गए हैं। एक समय था जब लोग अकारण भी एक दूसरे से मिलते थे, बतियाते थे, सुख-दुःख बांटा करते थे। अतिथि की सेवा में प्राणार्पण किया करते थे। जिस देश में अतिथि को देव तुल्य समझा जाता था, वही देश अब अतिथियों को लूटने में विश्वास करने लगा है। 'लूटो, नहीं तो लूट लिए जाओगे' आज की नीति बन गई है। कोई भी, कहीं भी लूटा जा सकता है। कहीं भी किसी की हत्या हो सकती है। चारों ओर एक अदृश्य भय व्याप्त है। इसी अदृश्य भय को केदारजी 'बाघ' के बिंब के माध्यम से व्यक्त करते हैं। 'बाघ' का आना एक दस्तक है वैश्विक डर का। कहीं भी, कभी भी आ सकता है बाघ, बाघ शहर में सदेह प्रवेश करता है, फिर भी सबकी नजरों से ओझल है। केवल अखबार में खबर है- कि पिछली रात शहर में / आया था बाघ।[18]

हालांकि किसी ने बाघ को आते-जाते देखा नहीं, फिर भी अखबार की खबर पर संदेह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मौसम और आबो-हवा ही वैसी है कि कभी भी आ सकता है बाघ। लोग अशोक स्तंभ के चौथे बाघ को ढूंढ़ रहे हैं। किंतु कोई नहीं जानता कि वह बाघ उन्हीं के बीच छिपा है। 'बाघ' भले एक बिंब, एक रूपक, एक प्रतीक, एक मिथ हो, किंतु वह विध्वंसक समय के विध्वंस को बेबाकी से प्रकट करता है। इस ढ़लती हुई शताब्दी के इस अंधे मोड़ पर 'बाघ' दरअसल समय के विध्वंसों के खिलाफ मनुष्य के संघर्ष की लोकगाथा है। कई बार लगता है- और कविता का हर टुकड़ा इस गुंजाइश को कहीं-न-कहीं बचाए रखता है कि वस्तुतः यह मायावी समय ही 'बाघ' है- या कि हमारी चेतना, हमारा प्रेम, हमारा भोलापन, हमारा नैराश्य यानी वह अपरिवर्त्य तलछट जो हमेशा बची रहती है। मुझे लगता है कि बाघ जो शहर का तिरस्कार करता है, वह दरअसल हमारी विकृति को तिरस्कृत करता हुआ हमारा अपना प्रेम है। बाघ जहाँ मिथक की ओट खोजता है, वहाँ वह जैसे हमारी ही दो फाँक चेतना का एक अंश है। हरे खेत के लाल ट्रैक्टर से ईर्ष्या करने वाला बाघ जीवन के प्रति हमारी लालसा का दूसरा नाम है।[19]

संवेदनहीनता और संबंधहीनता के वर्तमान समय में जहां एक ओर मनुष्य वस्तु में तब्दील होता जा रहा है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने वाले प्रेम प्रभृति मूल्यों के स्थान पर पाशविक मूल्यों की स्थापना इस अनाचारी सदी की एक बड़ी साजिश है। क्योंकि-

हिंसा उतनी आदिम नहीं है/जितना आदिम है प्रेम।[20]

प्रेम जीवन का आधार है। सृष्टि का संचालक है। प्रेम वह जीवनानुभव है जो आत्मा को उन्मुक्त बनाता है। प्रेम वह बीज है जो पुनः-पुनः सृष्टि में ऊर्जा का संचार करता है। वह प्रेम ही है जो अपने होने का अहसास कराकर जीवन और जगत के रीतेपन को नव-आकांक्षाओं के नवरंगों से भर देता है। परंतु इस अनाचारी सदी ने प्रेम के पावन मूल्यों को स्खलित कर उसे आवारा पूंजी का एक खेल बना दिया है। आज प्रेम का अर्थ है- सेक्स। विश्वनाथप्रसाद तिवारी प्रेम के इस स्वरूप को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं- खुद को खिचड़ी की तरह परोसेगी /

रात में जब होगा / प्रेम का चरम क्षण [21]

यानी आज का दांपत्य जीवन भी प्रेमविहीन हो गया है। बस यंत्र की भांति एक दूसरे के साथ रहना, एक दूसरे को भोगना ही प्रेम है। या यों कहें कि आज प्रेम का भी बाजारीकरण और वैश्वीकरण हो गया है। वस्तुतः यह प्रेम का उत्तर-आधुनिक स्वरूप है, जिसे उत्तर-प्रेम कहना अधिक समीचीन होगा। समकालीन कविता एक ओर उत्तर-प्रेम के स्वरूप को चित्रित करती है तो साथ ही वह प्रेम के विगत मूल्यों से भी परिचित करवाती है। इस दृष्टि से 'प्रेम 1990' एक छोटी-सी पर बड़ी ही मार्मिक कविता है। कविता की बनक देखते बनती है- कुछ देर साथ रहना है साथ चलना है / इसलिए हम छोड़ देते थे बस या रिक्शा / चलते थे पैदल / मन की फांक मिटाते हुए / तन की निश्चित दूरी पर / तब देह में उतरने से अधिक बहुत अधिक / लालसा थी / आत्मा में उतरने की।[22]

इतना ही नहीं, समकालीन कविता उत्तर-प्रेम के विगलित मूल्यों की जांच-पड़ताल भी करती है। 'कूड़ा तथा चिड़िया के बीच फंसी एक प्रेम कविता', 'एक प्रेम कविता को पढ़कर', 'प्रेम 2011' जैसी कविताओं में उत्तर-प्रेम के दुष्परिणामों को चित्रित किया गया है, जहां प्रेम अंततः एक चीख और पलायन में परिवर्तित होकर रह जाता है। केदारजी की कविता में लड़की का देखते-देखते ओझल हो जाना, आज के परिदृश्य में प्रेम के भावात्मक मूल्यों का ओझल हो जाना है। इसलिए आज की कविता प्रेम को बचाना चाहती है, ताकि बचा रह सके जीवन।

आज पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में भारतीय संस्कृति की अस्मिता खोती जा रही है। नव-उपनिवेशवाद के सैनिक भारतीय संस्कृति की आत्मा पर वार पर वार किए जा रहे हैं। यही कारण है कि आज हमसे लोक छूटता जा रहा है। हम भूलते जा रहे हैं अपनी संस्कृति को, अपनी परंपरा को और उनसे जुड़े लोगों को। सांस्कृतिक जड़हीनता और नैतिक शून्यता के वर्तमान दौर में समकालीन कविता लोक और उससे जुड़े मूल्यों को जीवित रखने की एक मुहिम है। आज भिखारी ठाकुर जैसे लोक-संस्कृति के संवाहकों को नचनिया आदि कहकर विस्मृत कर दिया गया है। यह वही भिखारी ठाकुर है जिसे सुप्रसिद्ध आलोचक राहुल सांकृत्यायन भोजपुरी साहित्य के 'शेक्सपीयर' के रूप में चिह्नित करते हैं। आज का शिष्ट साहित्य भिखारी ठाकुर जैसे लोगों को न जानता है, न पहचानता है। ऐसे विकट समय में केदारजी ने चरित्र प्रधान कविता 'भिखारी ठाकुर' की रचना कर न केवल भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व से परिचय कराया है, अपितु भारतीय लोकभाषाओं में सृजनरत लोगों की ताकत का एहसास भी कराया है। ऐसी कविताओं के माध्यम से कवि ने विलुप्त होती लोक-संस्कृति और लोक-शैली को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है। इसी कारण कवि प्रश्न भरी मुद्रा में नगरीय संस्कृति के विषय में सोचता है- यह कैसी सभ्यता है- मैंने सोचा / कि इसके पास अपनी कोई लोरी तक नहीं / उन यात्रियों के लिए / जिनकी गाड़ियाँ लेट हैं।[23]

समकालीन कविता स्त्री-जीवन से संबंधित दोयम दर्जे के मूल्यों और मानदंडों के प्रति भी

चिंतित दिखाई पड़ती है। यहां स्त्री-विमर्श का कोरा नारा नहीं है। बल्कि स्त्री के लिए सच्ची सहानुभूति और उसकी मुक्ति की कामना है। पितृसत्तात्मक समाज के दोयम मूल्यों के कारण स्त्री कभी भी भोग्या से अधिक नहीं बन पायी। ऐसे समाज को समकालीन कविता एकदम साफ शब्दों में नमक हराम कहती है। आज की कविता का मानना है कि स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है। उसका अनुकूलन ही इस तरह से किया जाता है कि वह कभी खुल नहीं पाती है और न कभी उसका स्वाभाविक विकास ही हो पाता है। स्त्री-संवेदना के संदर्भ में जितेंद्रजी की एक बड़ी ही मार्मिक कविता है 'सोनचिरई'। इस कविता में एक लोकगाथा को आधार बनाकर कवि ने स्त्री-जाति पर शासन करती रूढ़ियों और मान्यताओं को ढ़ाक के तीन पात कर डाला है। आखिर सारी परंपराएं, मान्याताएं, रीति-रिवाज सब कुछ स्त्री के नाम ही क्यों? सोनचिरई को बांझ कहकर सबने उसका तिरस्कार कर दिया। यहां तक कि उसे जन्म देने वाली मां ने भी उसकी छाया तक को अपशकुन कहा। पर किसी ने एक बार भी यह नहीं सोचा कि धरती कभी बांझ नहीं होती है। बीज ही खोखले होते हैं। कविता केअंत में सोनचिरई का आठ बेटों की मां होकर मरना ऐसे विगलित सामाजिक मूल्यों पर करारा तमाचा है। इस संदर्भ में कविता की स्वीकारोक्ति है- वह स्त्री थी/ और स्त्रियां कभी बांझ नहीं होतीं / वे रचती हैं! / वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं / तभी दुनिया होती है / रचने का साहस पुरुष में नहीं होता / वे होती हैं तभी पुरुष / पुरुष होते हैं।[24]

वर्तमान समय में राजनीतिक मूल्यहीनता के कारण लोकतंत्र के बदलते मूल्यों से भी आज की कविता बेहद त्रस्त और दुःखी है। भारत की आम जनता आजाद होकर भी आजादी का अर्थ नहीं समझ पायी। 'आजादी' तो महज उसके लिए एक शब्द है। वह आजादी से पहले भी गुलाम थी और अब भी है। फर्क सिर्फ इतना है कि अब वह जॉन की जगह गोविन्द की गुलाम है। ऐसी आजादी पर कटाक्ष करते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं- हम अपने देश के उजाड़ों में खोजते रहेंगे अपना चेहरा / -आजादी।[25]

सत्ता और कुर्सी के व्यामोह में फंसे राजनेताओं ने अपराधीकरण की राजनीति को जन्म दिया, जिसका सबसे बड़ा मूल्य सत्ता और लूट है। सांप्रदायिकता इस मूल्यहीन राजनीतिक संस्कृति की ही एक कड़ी है। धर्म के नाम पर लोगों को बरगलाना जैसे राजनेताओं का सबसे रूचिकर कार्य हो। क्या विडंबना है कि सांप्रदायिक हिंसा में सारा गांव, सारा शहर उजड़ गया, किंतु पूंजीपतियों की फैक्ट्री साबूत बच गई। सत्ताधीशों के महलों पर खरोंच तक नहीं आई। इस संदर्भ में कवि अरुण कमल की अभिव्यक्ति है- देखों हत्यारों को मिलता राजपाट सम्मान / जिनके मुंह में कौर मांस का उनको मगही पान।[26]

समकालीन कविता देखती है कि आज धार्मिकता और सांप्रादायिकता में फर्क करना भी कठिन हो गया है। समाज के ठेकादारों द्वारा धर्म की नई-नई परिभाषाएं गढ़ी जा रहीं हैं। जो लोग धर्म की ध्वजा उठाए जुलूस में शामिल नहीं होंगे, वे काफिर करार दिए जायेंगे अथवा गोलियों से भून डाले जायेंगे। क्योंकि ताकतवर सत्ता के पास नर-संहार को वैध ठहराने की तार्किक

उक्तियां जो हैं। इसलिए जो कुछ भी घटित होता है, उसके पीछे सरकार का कोई दोष नहीं होता। बल्कि दोषी तो आम जनता होती है। कैसी विकट स्थिति हो गई है कि हम जीवन के सबसे बड़े धर्म- अहिंसा और मानवता को मारकर उसके स्थान पर हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि को खड़ा कर रहे हैं।

अस्तु, समकालीन कविता अपने समय से जुड़ी गहन सामाजिक सरोकारों की कविता है। इसकी चिंता चिता में परिवर्तित नहीं होती, वरन् वह सीधे चित में उतरती है और कविता के दायित्व का निर्वाह करती है। कविता का संबंध भावनाओं से होता है। वह मनुष्य को उदार और उन्मुक्त बनाती है। इस अर्थ में समकालीन कविता इस करुणाविहीन समय को करुणामयी और उदात्त बनाने का उपक्रम है। सच कहा जाय तो घोर संवेदनहीनता के मौजूदा युग में मानवीय करुणा जैसे मूल्यों को जीवित रखने का प्रयत्न समकालीन हिंदी कविता की सबसे बड़ी कृतकार्यता है।

संदर्भ सूची

1. सिंह, केदारनाथ, ताल्सताय और साइकिल (2005), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 100
2. यथोपरि, पृ. 100
3. जोशी, राजेश, चाँद की वर्तनी (2006), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 92
4. श्रीवास्तव, जितेंद्र, कायांतरण (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 103
5. जोशी, राजेश, नेपथ्य में हंसी (2004), पहली आवृत्ति, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 60
6. सिंह, केदारनाथ, ताल्सताय और साइकिल (2005), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 11
7. श्रीवास्तव, जितेंद्र, कायांतरण (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 22
8. सिंह, केदारनाथ, उत्तर कबीर और अन्य कविताएं(2009), पहली आवृत्ति, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 16-17
9. जोशी, राजेश, धूप घड़ी (2002), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 117
10. कमल, अरुण, सबूत (1999), द्वितीय संस्करण, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 76
11. सिंह, केदारनाथ, सृष्टि पर पहरा (2014), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 31
12. जोशी, राजेश, समकालीनता और साहित्य (2010), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 42
13. श्रीवास्तव, जितेंद्र, कायांतरण (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 78-79
14. सिंह, केदारनाथ, उत्तर कबीर और अन्य कविताएं (2009), पहली आवृत्ति, नई दिल्ली,

राजकमल प्रकाशन, पृ. 12

15. कात्यायनी, जादू नहीं कविता (2002), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 86
16. जोशी, राजेश, दो पंक्तियों केबीच (2000), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन पृ. 55
17. कमल, अरुण, मैं वो शंख महाशंख (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 38
18. सिंह, केदारनाथ, बाघ (2009), प्रथम वाणी संस्करण, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 11
19. यथोपरि, पृ. 63
20. श्रीवास्तव, एकांत, बीज से फूल तक (2003), पहला संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 78
21. तिवारी, विश्वनाथप्रसाद, कवि ने कहा (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 97
22. श्रीवास्तव, जितेंद्र, कायांतरण (2012), प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 81
23. सिंह, केदारनाथ, उत्तर कबीर और अन्य कविताएं (2009), पहली आवृत्ति, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 32
24. श्रीवास्तव, जितेंद्र, इन दिनों हालचाल (2011), प्रथम संस्करण, दिल्ली, यश पब्लिकेशंस पृ. 23
25. सं. शर्मा, सुरेश, प्रतिनिधि कविताएंः रघुवीर सहाय (2000),पहली आवृत्ति, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 128
26. कमल, अरुण, सबूत (1999), द्वितीय संस्करण, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 62

समकालीन हिन्दी कविता में लोक

(संदर्भः केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, और जितेन्द्र श्रीवास्तव)

- मृत्युंजय पाण्डेय

समकालीन हिन्दी कविता पर कुछ भी लिखने-बोलने से पहले सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि इसकी शुरुआत कब से मानी जाये। कुछ लोग 1970 से समकालीन कविता की शुरुआत मानते हैं तो कुछ 1980 से। जबकि कइयों का मानना है कि 1990 से यानी भूमंडलीकरण और पूंजीवाद के प्रभाव में बदली सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों के संदर्भ में समकालीन कविता को जोड़कर देखा जाये। सुप्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय का भी यही सुझाव है कि 1990-92 से समकालीनता को जोड़कर समझना बेहतर होगा जो ग्लोबलाइज़ेशन से जुड़ा हुआ है। (संवाद-परिसंवाद, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, सन् 2013, पृ 185)।

समकालीन हिन्दी कविता की परिधि को हम न तो 1970 की सीमा में बांध सकते हैं और न ही 1990 को। इससे 1980 की सीमा में ही बांधना उचित होगा। हम कह सकते हैं कि समकालीन हिन्दी कविता की शुरुआत केदारनाथ सिंह (पहली पीढ़ी) के दूसरे काव्य-संग्रह 'जमीन पक रही है' से होती है। हम देखते हैं कि केदार जी के प्रथम (अभी बिलकुल अभी, 1960) और दूसरे काव्य-संग्रह (जमीन पक रही है, 1980) के बीच बीस वर्षों का लम्बा अंतराल है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन बीस वर्षों तक कवि केदारनाथ सिंह कहाँ थे? वे क्या कर रहे थे? वे क्या खोज रहे थे? उन्हें किस चीज की तलाश थी? इस प्रश्न का उत्तर छिपा है 'जमीन पक रही है' संग्रह में। इन बीस वर्षों में वे अपने आप को राजनीतिक और सामाजिक रूप से बहुत परिपक्व बना रहे थे। जमीन के साथ-साथ वे भी पक रहे थे। अपनी सांस्कृतिक चेतना का विस्तार कर रहे थे। वे अपने जीवनानुभव के दायरे को बढ़ा रहे थे। समय की सच्चाई और विडम्बनाओं की पड़ताल कर रहे थे। वर्तमान में खड़े होकर अतीत और भविष्य को देखने-समझने की दृष्टि का विस्तार कर रहे थे। हम इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि वे अपने 'इतिहास-बोध' को गहरा कर रहे थे। यहाँ एक बात स्पष्ट करना जरूरी है कि इतिहास-बोध का अर्थ सिर्फ अतीत बोध नहीं है। इतिहास-बोध का अर्थ भविष्य-बोध भी है। यह वर्तमान, अतीत और भविष्य दोनों से जुड़ा हुआ है- अतीत-से खुराक लेता हुआ, भविष्य

की थाह का आभास देता हुआ, भविष्य के जीवन-जल को ग्रहण करता हुआ। (अरुण कमल, कविता और समय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन् 1999, पृ 104) केदार जी के हर संग्रह में किसी-न-किसी रूप में यह 'इतिहास-बोध' शामिल है। इसके अलावा वे 'आदमी के नींद और विचार' में पहुँचने की राह खोज रहे थे। अपने समकालीन कवि श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय और कुँवर नारायण से भिन्न एक अलग जमीन की तलाश कर रहे थे। जहाँ खड़े होकर वे तमाम बदली हुई सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों की पड़ताल कर सकें। 'जमीन पक रही है' काव्य-संग्रह को देखने के बाद लगता है कि केदारनाथ सिंह अपने इस प्रयास में पूरी तरह से सफल होते हैं।

संभवतः दूसरी बार केदार जी के माध्यम से हिन्दी कविता में 'लोक' की व्यापक वापसी होती है। हिन्दी कविता में लोक की पहली झलक हमें नागार्जुन के यहाँ दिखती है। नागार्जुन से पहले शायद किसी ने यह नहीं सोचा था कि 'कटहल', 'गाय', 'मछली', 'चूड़ी' और 'नेवला' पर भी कविता लिखी जा सकती है। वास्तव में कविता वहीं होती है जहां होने की कोई संभावना नहीं होती। (अरुण कमल) डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में कहें तो- जो वस्तु औरों की संवेदना को अछूती-सी छोड़ जाती है वही नागार्जुन के कवित्व की रचना-भूमि है। (नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएं, भूमिका) इसके अलावा इनके यहाँ 'रिक्शा खींचनेवाले, फटी बिवाइयोंवाले' मजदूरों पर भी कविताएं मिलती हैं। ऐसी ही रचना-भूमि का चुनाव केदारजी अपने लिए करते हैं। कहीं केदार जी को नागार्जुन प्रभावित कर रहे थे। कहीं-न-कहीं केदार जी इस सच्चाई को जान गए थे कि- शहर की सारी सीढ़ियाँ मिलकर / जिस ऊंचाई तक जाती हैं /वहाँ कोई नहीं रहता। (ऊंचाई, यहाँ से देखो, पृ 58)।

इसीलिए इनकी कविताओं में लोक और लोक-संस्कृति की गंध घुली-मिली है। केदार जी अपने आसपास और पास-पड़ोस की चीजों तथा जीवन को लेकर कविता की रचना करते हैं। इनके यहाँ 'आलू, कुदाल, नमक, पानी, भूसा, ट्रक, पेड़, मिट्टी, चोलम, बैल, घोड़ा, चूल्हा, रोटी, कुल्हाड़ी, कौआ, घड़ी, हाथ, भूख, फूल, बिस्तर, सुई, धागा, चिड़िया, कपास, छाता, पत्थर, अमरूद, बोझा, दाना, रास्ता, नीम, गडरिया से लेकर नूर मियां, लालमोहर, हीरा भाई और टमाटर बेचने वाली बुढ़िया तक कविता का विषय है। केदार जी को गाँव, गाँव के लोग, वहाँ के जानवर और वहाँ की वस्तुएं बहुत अच्छी लगती हैं। वे उनसे और ये इनसे एक आत्मीय की भांति मिलते हैं। वे हमेशा इन रिश्तों को समझने और इन पर पड़ी धूल को झाड़ने की कोशिश करते रहते हैं। पिछले साठ वर्षों से केदार जी इन्हीं रिश्तों को समझने और समझाने में लगे हुये हैं।

केदारनाथ सिंह की कविता से बढ़कर एक 'पुरविहा का आत्मकथ्य' है। इनकी 'भोजपुरी' कविता के सहारे से कहूँ तो, केदार जी की कविताओं की क्रियाएं खेतों से आती हैं। संज्ञाएं पगडंडियों से और ध्वनि बिजली की कौंध और महुए की टपक से। शब्द उनको मिलते हैं दानों से और खुरपी-कुदाल के युगल संगीत से छन्द मिलते हैं। हम कह सकते हैं कि केदार जी की

कविताओं की जान और पहचान हैं, किसान और उनके खेत-खलिहान। उनकी और उनकी कविता की आत्मा 'भोजपुरी' में छुपी हुई है। उनकी कविताओं के शब्दकोश की सबसे बड़ी लाइब्रेरी भोजपुरी जनपद का लोक है। 'भोजपुरी' ध्वनि और जुबान के महत्त्व को रेखांकित कराते हुये केदार जी कहते हैं- लोकतन्त्र के जन्म से बहुत पहले का /एक जिंदा ध्वनि-लोकतन्त्र है यह / जिसके एक छोटे से 'हम' में / तुम सुन सकते हो करोड़ों / 'मैं' की धड़कनें / (भोजपुरी - सृष्टि पर पहरा, पृष्ठ संख्या, 90-91) ।

केदारनाथ सिंह पूरे आत्मविश्वास के साथ कहते हैं कि हिन्दी मेरा देश है/ भोजपुरी मेरा घर (देश और घर, पृ 94)। उन्हें देश और घर दोनों से प्यार है। पर मुश्किल यह कि 'पिछले साठ वर्षों से' वे 'दोनों को दोनों में' ढूंढ रहे हैं। यानी देश को घर में और घर को देश में, थोड़ा स्पष्ट करें तो हिन्दी को भोजपुरी में और भोजपुरी को हिन्दी में, थोड़ा और स्पष्ट करें तो, शहर को लोक में और लोक को शहर में खोज रहे हैं। भोजपुरी को हिन्दी में ढूँढना शहर में लोक की खोज ही है। यदि ध्यान से देखें तो भोजपुरी में हिन्दी के लिए भरपूर प्रेम, स्नेह और जगह है, लेकिन हिन्दी में भोजपुरी के लिए जगह नहीं है। यानी शहर में लोक के लिए न तो स्नेह है और न ही प्रेम। कवि केदारनाथ सिंह लगातार साठ वर्षों से अपनी कविताओं के माध्यम से इस अंतर तो खत्म करने की कोशिश कर रहे हैं। उनकी यह कोशिश है कि हिन्दी में भोजपुरी के लिए भरपूर जगह बची रहे। कवि केदारनाथ सिंह यह समझते हैं कि हिन्दी और भोजपुरी अलग-अलग भाषा नहीं हैं। वे कहते हैं- घर से निकलता हूँ / तो चला जाता हूँ देश में / देश से छुट्टी मिलती है / तो लौट आता हूँ घर। (देश और घर, सृष्टि पर पहरा, पृ 94)।

आगे जो केदार जी कहते हैं उस पर सोचने की जरूरत है। वे कहते हैं- इस आवाजाही में / कई बार घर में चला आता है देश / देश में कई बार / छूट जाता है घर। (देश और घर, सृष्टि पर पहरा, पृ 94)।

घर (भोजपुरी) में देश (हिन्दी) के लिए जगह है लेकिन देश में घर के लिए नहीं। यही सबसे बड़ी दुख की बात है। इस स्थिति को देख केदार जी का मन व्यथित हो उठता है। इस कविता में एक बात और ध्यान देने की है कि केदार जी सबसे पहले 'देश' को महत्त्व देते हैं उसके बाद 'घर' को। कविता में सबसे पहले 'देश' ही आता है।

केदार जी की यह भरपूर कोशिश है कि महानगर में रहते हुये भी हमारे शरीर पर गाँव-कस्बे की जरा-सी धूल बची रहे। कारण, यह धूल ही हमारी पहचान है। पर लाख कोशिश के बाद भी वे उसे झरने से बचा नहीं पाते। वे लिखते हैं- मैंने कोशिश बहुत की / कि वह जरा-सी धूल /मेरे-संग बची रहे महानगर में / पर पता नहीं कैसे / धीरे-धीरे झरती रही वह / झरती रही मेरी पहचान। (काली सदरी, सृष्टि पर पहरा, पृ 104)।

भले ही केदारनाथ सिंह महानगर के जीवन में 'मकई के लावा की गंध' और 'सुदूर कस्बे के धूल' को न बचा पाये हों, पर उसे भूले नहीं हैं। इतना ही नहीं वे साठ वर्षों से लगातार इस कोशिश में लगे हैं कि हमारी आत्मा से 'मकई के लावा की गंध' और 'कस्बे की धूल' न उतरे।

यही हमारी पहचान है, हमारा अस्तित्व, हमारी अस्मिता। समकालीन कविता में लोक की वापसी दरअसल अस्तित्व, अस्मिता और अपने निजी पहचान को बचाए रखने की कोशिश है। फिर चाहे ये केदारनाथ सिंह हो या राजेश जोशी या जितेन्द्र श्रीवास्तव सभी अपनी-अपनी कविताओं के माध्यम से अपने अस्तित्व को बचाए रखने की कोशिश में लगे हुये हैं। ये कवि इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि भूमंडलीकरण, बाजारवाद, पूंजीवाद और उपभोक्तावाद की इस संस्कृति में अपने अस्तित्व, अपने निजी पहचान को बचना कितना कठिन व्यापार है।

'सृष्टि पर पहरा' संग्रह में एक कविता है- 'गमछा और तौलिया। इस कविता में भी हम अस्मिता और निजी पहचान के बोध को देख सकते हैं। केदार जी लिखते हैं- गमछा और तौलिया /दोनों एक तार पर टंगे / सुख रहे थे साथ-साथ / वे टंगे थे/ जैसे दो संस्कृतियाँ / जैसे दो हाथ-बायाँ और दायाँ / झूलते हुये अगल-बगल। (गमछा और तौलिया, सृष्टि पर पहरा, पृ 60)।

कविता में हम आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं कि गमछा हिन्दी में सूख रहा है और तौलिया अँग्रेजी में झपकी लेता है। हम एक साथ दो-दो संस्कृतियों को लेकर चल रहे हैं। यह सच्चाई है कि अँग्रेजी के चलते हिन्दी सूख रही है। थोड़ा स्पष्ट करें तो हमारी लोक संस्कृति जिससे हमारी निज की पहचान है वह झुलस रही है। सूख रही है, नष्ट हो रही है। केदार जी की यह कोशिश है कि यह खत्म न हो। एक अन्य कविता 'जैसे दिया सिराया जाता है' में हम इस भावना को देख सकते हैं। कविता शुरू होती है माँ के गंगा नहाने की जिद से और कवि एक दिन भरी दोपहरी में जब सारा कोलकाता शहर सो रहा था वह माँ को अपनी हथेली में उठा कर भागीरथी में सिरा देता है। पर थोड़ी देर बाद कवि को ध्यान आता है कि माँ के पास न तो 'वीसा है न पासपोर्ट/ जल में कस्टम के जाने कितने पचड़े'। फिर कुछ न सुझा तो वह भागीरथी से कहता है- माँ / माँ का खयाल रखना / उसे सिर्फ भोजपुरी आती है। (जैसे दिया सिराया जाता है, सृष्टि पर पहरा, पृ 93)।

यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं कि कवि माँ, भागीरथी और भोजपुरी तीनों को लेकर चिंतित है। आज तीनों के अस्तित्व के साथ-साथ हमारी पहचान भी संकट में है। इनके बचने से ही बचे रहेंगे हम। माँ पुरातन का प्रतीक है, भागीरथी संस्कृति की और भोजपुरी हमारे अस्तित्व की। आप देख सकते हैं कवि केदारनाथ सिंह कितना दूर तक देख रहे हैं।

एक सजग कवि का कवि-कर्म अनेक चुनौतियों से भरा रहता है। अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करना आसान है: अपने परिवेश में अपनी पीड़ा को व्यक्त करना कठिन है: और भविष्य के संदर्भ में अपने परिवेश के साथ अपनी पीड़ा का चित्रण करना उससे भी कठिन है। दायरे के विस्तार के साथ कवि-कर्म की जटिलता भी बढ़ती जाती है। (नामवर सिंह) यह कहने की जरूरत नहीं कि कवि केदारनाथ सिंह अपनी कविताओं में 'भविष्य के संदर्भ में अपने परिवेश के साथ अपनी पीड़ा का चित्रण' करते हैं। केदारनाथ सिंह कि 'कठिनाई यह है/ कि वे

चीजों को जानते हैं'। वे और उनकी कवितायें लगातार नई-नई स्थितियों से आत्म-साक्षात्कार करती रहती हैं। वे हर संग्रह में एक नई अनुभूति, एक नया अनुभव को लेकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। बहुत-सी शंकाओं के साथ वे मनुष्य और उसकी पहचान को बनाए और बचाए रखने की हर संभव कोशिश करते हैं। केदार जी कविता में मनुष्य और मनुष्य द्वारा बनाई गई सामान्य वस्तुओं का विशेष स्थान एंव महत्त्व है।

1980 में केदार जी जिस लक्ष्य को लेकर चले थे वह आज भी उनसे छूटा नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है उनका नवीनतम काव्य-संग्रह 'सृष्टि पर पहरा' है। इस संग्रह में लगभग 57 कवितायें हैं, जिनमें से 50 से 55 का संबंध सीधे लोक से है। उन्होंने यह संग्रह अपने गाव के उन लोगों को समर्पित किया है जिन तक यह किताब कभी नहीं पहुंचेगी। केदार जी इस बात को बहुत भली-भांति जानते हैं कि जिनकेलिए वे कविता लिखते हैं या जो उनकी कविता के केंद्र में हैं, वे कभी भी उनकी कविता नहीं पढ़ सकते। नूर मियां इस बात को नहीं जानते कि केदार ने उनकेलिए कविता लिखी है और न ही लालमोहर इस बात को कभी जान पाएगा कि उसको लेकर हिन्दी कविता में एक बहस छिड़ी हुई है। 'हीरा भाई' इस बात को नहीं जानते कि उनके गांव केकेदार ने, वही केदार जिसकी आत्मा से वे उतरे नहीं हैं, उन्हें 'आदमी और पशु के बीच का अन्तिम लचकहवा पुल' साबित कर दिया है और न ही 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' तक यह ख़बर पहुंचेगी कि वह हिन्दी कविता की पहचान बन गई है। इसके बाद भी केदार जी लगातार लिख रहे है और बहुत ही शिद्दत से लिख रहे हैं। कारण, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि इनके बचने से ही बचे हुये हैं हम।

सन् 1980 में केदार जी 'एक ताजा फूलों का गुच्छा' लेकर हिन्दी कविता में प्रवेश करते हैं और इन फूलों के महक से हिन्दी कविता का देह मह-मह महक उठता है। इन ताजे फूलों से इनकेबाद की पीढ़ी को एक ताजगी मिलती है। यह ताजगी लोक की है, जिसे वे अपनी कविता का विषय बनाते हैं। समकालीन कविता में आज चार पीढ़ियाँ एक साथ सफर कर रही है। हम देखते हैं कि 'जमीन पक रही है' के माध्यम से केदार जी जिस अस्तित्व या निजी पहचान का बीज रोपते हैं वह आज चारों दिशाओं में उग गया है। केदार जी की शैली और बिम्ब आज समकालीन कविता की पहचान बन गई है। सन् 1983 में केदार जी समकालीन हिन्दी कविता को, चीजों को देखने की एक नई जगह और दृष्टि देते हैं। 1983 में वे कहते हैं 'यहाँ से देखो'। 'यहाँ' से यानी उस जमीन से जहां से हम आ रहे हैं, जहां से हमारी पहचान जुड़ी हुई है। उसी जमीन पर खड़े होकर, वहाँ के लोगों की दृष्टि से चीजों को देखना, समझना होगा। देखना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि हम किस अक्षांश से खड़े होकर चीजों को देख रहे हैं। आज समकालीन हिन्दी कविता केदार जी के दिखाये हुये जगह से ही खड़ा होकर देख रही है। आज समकालीन कविता के केंद्र में कवि केदारनाथ सिंह की दृष्टि है। केदार जी समकालीन हिन्दी कवियों को कहने, सोचने, समझने और देखने की दृष्टि देते हैं। वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हम अपनी बात को पूरे विश्वास के साथ दूसरे से कहें। यदि अंधेरा है तो अंधेरा को

अंधेरा ही कहें, रोशनी नहीं। वे पूरे विश्वास के साथ अपने शब्दों को फेंकते हैं लाखों-करोड़ों लोगो के सामने। वे आलू को आलू और टमाटर को टमाटर कहने से नहीं हिचकते। केदार जी अपने भीतर की सारी सच्चाई के साथ किसान, मजदूर, बढ़ई, चिड़िया, नदी, पेड़, झाड़ू, राख़, दीवार, चींटी आदि सबकी तरफ से सबके प्रतिनिधि बनकर बोलते हैं। केदारनाथ सिंह और ये सारी चीजें एक-दूसरे से बोलते बतियाते हुये चलते हैं।

'दुनिया का सारा कपड़ा फिर से बुनना है,' यानी 'पुनर्निर्माण' का समय आ गया है। जाहिर है यह काम बहुत बड़ा है, अकेले के बस का नहीं। इसके लिए कई हाथ और बहुत-सी सूतों की आवश्यकता पड़ेगी। इसीलिए कवि अपनी सुबह और शाम दोनों धागों को यानी एकदम नयी पीढ़ी और समकालीन दोनों को उठाने और साथ चलने को कहता है। आज हर सचेत कवि केदार जी की आवाज़ पर बुनने के काम में लगा हुआ है। वह कविता नहीं लिख रहा बल्कि बुन रहा है, कारण यह कविता लिखने का समय नहीं, बुनने का समय है।

केदार जी कविता लिखते नहीं, बुनते हैं, वे बुनावट के कवि हैं। वे हर एक गंध, हर एक स्पर्श, हर दुख और पीड़ा की जड़, हर आँख के नम की वजह, तथा हर एक धड़कन और हर एक सांस का इतिहास लिख देना चाहते हैं। केदार जी की यह इच्छा है कि- हर धड़कन के साथ / एक अदृश्य तार जोड़ दिया जाए / कि एक को प्यास लगे / तो हर कंठ में जरा-सी बेचैनी हो / अगर एक पर चोट पड़े / तो हर आँख हो जाए थोड़ी-थोड़ी नम / और किसी अन्याय के विरुद्ध / अगर एक को क्रोध आए / तो सारे शरीर / झनझनाते रहें कुछ देर तक। (एक जरूरी चिट्ठी का मसौदा, तालस्ताय और साइकिल पृ 80)।

इस इतिहास में चींटी से लेकर सूअर जैसे पशु तक शामिल हैं। इस असंवेदनशील समय में केदार जी को 'चींटियों की रुलाई', 'कुएं' की ठंडी गूँज, मधुमाखियों की परेशानी और 'एक पशु की कराह' बेचैन करती रहती है। यह बेचैनी केदार जी के संवेदनशील होने की निशानी है। जो भी थोड़ी-बहुत चीजें बची हुई हैं उसको बचाने की पूरी कोशिश में केदार जी लगे हुये हैं। केदार जी हमें उदास या निराश नहीं करते।

कवि केदारनाथ सिंह हिन्दी कविता में 'नमक' की तरह प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार 'नमक' हमारे जीवन के सारे स्वाद को बदल देता है, उसी प्रकार केदारनाथ सिंह हिन्दी कविता के स्वाद को बदल दिये हैं। 'नमक' और केदार दोनों के बिना जीवन और कविता स्वादहीन है। अंत में देवेन्द्र कुमार की चंद पंक्तियाँ - न कोई पगड़ी / न कोई पुंछौटा / न कोई मकाब / न कोई मुहिम / एक ऐसी ही अजीम-शख्सियत का नाम है / केदारनाथ सिंह। (शब्द जब आदमी को खोलता है, कविता से)।

कवि केदारनाथ सिंह 'पुरबिहा' संस्कृति के पहरूआ हैं।

राजेश जोशी :

कवि राजेश जोशी (दूसरी पीढ़ी) केदारनाथ सिंह के बाद की पीढ़ी के कवि हैं। ये और इनकी कविता 'दो पंक्तियों के बीच की सुनी जगह' में छुपी हुई है। भोपाल की 'बोली, वानी, मिज़ाज और मौसम' से लबरेज कवि राजेश जोशी को 'घर की याद' बहुत बेचैन करती है। घर से दूर शहर या कस्बा में घूमते वे उस हर चेहरे की उदासी को पढ़ लेते हैं जो 'घर की याद' में एक निर्वासित जिंदगी जी रहा है या जीने के लिए मजबूर है। वास्तव में 'हमारे समय का सबसे बड़ा दुख है निर्वासन'। लोक से बिछुड़ने और घर से दूर रहने का आंतरिक दुख केदारनाथ सिंह के यहाँ भी बहुत है। 'घर की याद' दरअसल अपनी जगह से, अपने स्थान से लगाव है। इसे हम 'आंतरिक विस्थापन' का दर्द भी कह सकते हैं। महानगर या छोटे-छोटे शहर में हम सब रोटी के लिए एक निर्वासित जिंदगी ही जी रहे हैं। अपने लोग और अपनी धरती से निष्कासन का दुख कोई नहीं समझ सकता। कविता की कोई भी पंक्ति उस दुख को ठीक-ठीक नहीं पकड़ सकती। 'निष्कासन का दुख' कविता की पंक्ति में नहीं बल्कि 'कविता की दो पंक्तियों के बीच की सूनी जगह' में छिपा हुआ है। वह सूनी जगह एक उम्मीद में हमें निहारती रहती है और हम अक्सर उससे आँखें चुराते रहते हैं। लेकिन कवि राजेश जोशी की आँखें उस प्राइमरी स्कूल के मास्टर के दुख को पढ़ लेती हैं, जो पिछले दस वर्षों से अर्ज़ियाँ पर अर्ज़ियाँ दे रहा है, तबादले के लिए, पर उसकी बात नहीं सुनी जाती। 'घर की याद' और अपनों के गम में वह दारू पीने लगा है। प्राइमरी स्कूल का फटेहाल मास्टर कहता है- यहाँ जंगल में फेंक दिया है मुझे / घर से ढाई सौ मिल दूर / दस बरस में लगाई हैं मैंने सैकड़ों अर्ज़ियाँ /लगाए हैं पचासों चक्कर शिक्षा विभाग के / राज्य परिवहन की बसों को दे चुका हूँ अपनी सारी पगार / न जाने कितने ढाबों का पी चुका हूँ पानी / खा चुका हूँ नमक /फांक चुका हूँ न जाने कितने मन धूल। (घर की याद, दो पंक्तियों के बीच, पृ 62)।

कुछ-कुछ ऐसा ही प्राइमरी स्कूल का मास्टर नागार्जुन के यहाँ है। उसका भी दुख 'बहुरूपिया' बन जाता है, उसकी भी कोई नहीं सुनता। आप देख सकते हैं राजेश जोशी केदारनाथ सिंह सहित नागार्जुन से भी प्रभावित हैं। इनकी रचना का स्रोत ये दोनों हैं। नागार्जुन की तरह ही कवि राजेश जोशी को प्राइमरी स्कूल के मास्टर का दुख दबोच लेता है। नागार्जुन को प्राइमरी स्कूल के मास्टर का दुख इसलिए दबोचता है कि वे भी उस दुख से अर्थात भूख और गरीबी से जूझ रहे थे या इसे विस्तार देते हुये कहें तो यही भूख और गरीबी उनके समय का सबसे बड़ा दुख था। कवि राजेश जोशी को प्राइमरी स्कूल के मास्टर का दुख इसलिए दबोचता है कि वे भी एक निर्वासन की जिंदगी जी रहे हैं। निर्वासन हमारे समय का सबसे बड़ा दुख है। 'घर की याद' कवि को बेचैन कर जाती है, उसके मन में एक हुक-सी उठती है। वह अपना दुख किसी से नहीं कर पाता और न कह पाने की बेचैनी में वह रचता है एक कविता। लोक से निर्वासित लोग शहर और कस्बों की टूटी-फूटी बेंच पर बैठकर, चाय में डुबा-डुबा कर, घुटते हुये घुट-घुट पीते हैं। अपना दुख बहुत मुश्किल से दबा पाते हैं वे इस पीड़ा को।

'शहर की गलियों' की बंद दुकानों की पटिये पर भी आपको हमारा लोक मिल जाएगा। अपने सपनों को पूरा करने के लिए चले हमारे नौजवानों को यह पता नहीं कि मायालोक की यह गालियां कितनी ऊबड़-खाबड़ और चक्करदार हैं। एक बार घुसने के बाद इनमें से निकल पाना आसान नहीं इनके लिए। ये नौजवान जीवन भर शहर की गलियों की पटियों पर घूमते-घूमते खप जाते हैं। अपने लोगों की सूखे होठों पर एक हल्की-सी मुस्कान बिखेरने के लिए ये अपने लोग और लोक से दूर एक गुमनाम जिंदगी जीते रहते हैं। कभी-कभी तो इन्हें गुमनामी की मौत भी मिलती है। यह एक 'आंतरिक निर्वासन' है। अपने ही देश में, अपने ही लोगों के बीच हम निर्वासित हैं।

कवि राजेश जोशी का लोक किसी भी शहर की गली में दिख जाएगा। सुखद बात यह है कि इन गलियों के चलते ही शहर उन्हें कभी बेगाना नहीं लगता। इन गलियों में भटकते हुये कभी-कभी उन्हें तारे मिल जाते हैं अपनी लालटेनें लिए सिवान से लौटते किसान की तरह इन गलियों के बारे में कवि एक और बात बताता है- सड़कों के नाम अक्सर बेगमों और नवाबों के नाम पर थे / जबकि गलियों के नाम जिन लोगों के नाम पर थे / उनका कोई लिखित इतिहास नहीं था / काली धोबन की गली, शेख बत्ती की गली / नाइयों की गली, बाजे वालों की गली / गुलिया दाई की गली ... (हमारे शहर की गलियाँः दो, दो पंक्तियों के बीच पृ. 70)।

इन गलियों के नामों की तरह ही लोक के चेहरों का कोई लिखित इतिहास नहीं। इन गलियों के नाम लोक द्वारा ही रखे गए हैं। सरकार के खाते में तो इसका कुछ और ही नाम होगा, लेकिन रोजमर्रा के व्यवहार में सरकारी कर्मचारी और आम जनता द्वारा इन गलियों को लोक द्वारा दिये गए नाम से ही पुकारा जाता है।

कवि राजेश जोशी का लोक शहर में है। शहर में रहते हुये शहर की जिंदगी में वे लोक की पड़ताल करते हैं। वे चाहते हैं कि लोक की संस्कृति, परम्परा, संवेदना, अपनापन और मानवीयता बची रहे। उनकी इस चाहत को हम 'बचाना' शीर्षक कविता में देख सकते हैं। इस कविता में - एक औरत हथेलियों की ओट में / दीये की काँपती लौ को बुझाने से बचा रही है / एक बहुत बूढ़ी औरत कमजोर आवाज में गुनगुनाते हुए/ अपनी छोटी बहू को अपनी माँ से सुना गीत / सुना रही है।

एक बच्चा पानी में गिर पड़े चींटे को / एक हरी पत्ती पर उठाने की कोशिश कर रहा है / एक आदमी एलबम में अपने परिजनों के फोटो लगाते हुए / अपने बेटे को उसके दादा दादी और नाना नानी के / किस्से सुना रहा है। (बचाना, दो पंक्तियों के बीच, पृ 66)।

कवि यह जानता है कि इन चीजों के बचे रहने से बचे रहेंगे हम, बची रहेगी हमारी दुनिया। कवि राजेश जोशी लोक प्रचलित मान्यता या अंधविश्वास को भी अपनी कविता का विषय बनाते हैं। लोक मान्यता केअनुसार 'खोड़ला' एक ऐसा दुर्भाग्यशाली गाँव है जिसका नाम लेने भर से अपसगुन हो जाता है। ऐसी मान्यताएँ लोक में आज भी हैं। बिहार राज्य के छपरा जिले का एक गाँव है 'सोनान्ही'। लोक की मान्यता केअनुसार यदि आपने इस गाँव का नाम ले

लिए तो दिन भर आपको अन्न-जल से भेंट नहीं होगी। खैर, राजेश जोशी के 'खोड़ला गाँव' पर आते हैं। कवि इस गाँव की महत्ता बताने के बाद यह बताता है कि इस गाँव का नाम दिन भर के थके-हारे लोगों को कम से कम दिल खोलकर एक बार हंसने का बहाना देता है। कविता के अंत में राजेश जोशी लिखते हैं- हाट-बाजार करके जब दूसरे गाँव से लौटते थे लोग / तो कंडेक्टर से टिकिट माँगते / कोई नाम नहीं लेता था उस गाँव का / नाम के एवज में कहते थे लोग-ग्यारह कोस / कभी-कभी ठिठोली में कहता था कोई / एक टिकिट खोड़ला गाँव... / और सब हँस देते थे ज़ोर से / यह जो सबको कम से कम एक बार / हँसने का बहाना देता था / उस गाँव का नाम मत पूछो / उसका नाम नहीं लिया जाता! / (खोड़ला गाँव, दो पंक्तियों केबीच, पृ 64-65)।

कवि राजेश जोशी के यहाँ लोक बहुत महीन रूप में आता है, जिसे ढूँढना सहज-सरल और आसान नहीं। एकबारगी हम उसे नहीं समझ पाते। शहर में लोक की खोज अपने आप में बड़ी और कठिन प्रक्रिया है।

जितेन्द्र श्रीवास्तव :

जितेन्द्र श्रीवास्तव हमारे समय के महत्वपूर्ण युवा कवि हैं। इनको पढ़ना 'तपते रेगिस्तान में बारिश की तरह' है। ये हिन्दी कविता की एक ऐसी आँख हो गए हैं, जिससे लोग सपना देख रहे हैं। जितेन्द्र श्रीवास्तव 'झूठ-फरेब, रुपया-पैसा या सोना-चाँदी' के कवि नहीं हैं। वे जीवन के सपनों के उजास भरी आँखों के कवि हैं। वे उन होठों के कवि हैं, जिनको काट गई है चैती पुरवा। वे उन कंधों के कवि हैं जो झुक गये हैं बोझ उठाते-उठाते। वे कवि हैं उनके जिन्हें नहीं मयस्सर नींद आँख भर और नहीं मयस्सर अन्न आंत भर कवि है 'उदास खेतों के वे दुख का, जिन्हें सींच रहे हैं आँखों के जल' वे कवि हैं उन हाथों का, जो नहीं पड़े चुपचाप, जो नहीं काटते गला किसी का। यानी वे कवि हैं 'अपने मन और अपनों के मन का।'

इस युवा कवि की कविताओं में 'लोक का चेहरा' दिखता है। उनकी कविताओं को पढ़ते हुये आँखों को यह सहज विश्वास नहीं होता कि उनके यहाँ लोक इतने गहरे और सशक्त रूप में उपस्थित है। इनको पढ़ते हुये बार-बार केदारनाथ सिंह याद आते हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि जितेन्द्र श्रीवास्तव कवि केदारनाथ सिंह की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि हैं। कवि का लोक अतिसामान्य शब्द और मामूली चीजों से बना है। जैसे- लालटेन, पीढ़ा, छाता, बथुआ साग, मामूली लोग या मामूली स्त्रियों से। लेकिन ये मामूली चीजें कवि की हाथों में आते ही असामान्य दिखने लगती हैं। अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगती हैं। उन स्त्रियों की सारी जिंदगी 'जाँत' पर गेहूँ पिसते और गीत गाते हुए उस पति के इंतजार में बीत जाती है जो 'बिदेस' चला गया है। लोक का 'बिदेस' अमेरिका या लंदन नहीं बल्कि कलकत्ता (कोलकाता) जैसा शहर है। अपने बच्चों के चेहरों पर एक हल्की-सी मुस्कान देखने के लिए ये 'अपने मुलुक की मिट्टी पानी' और 'बोली-बानी', घर-गाँव, यार-दोस्त, बीबी-बच्चे को छोड़कर रोजी-रोटी की खोज में,

मजदूरी करने चले जाते हैं। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव 'श्रम की आँच में तपे इन चेहरों' के माध्यम से हमें 'लोक का चेहरा' दिखा देते हैं- यदि कोई देखना चाहे / हमारे लोक का चेहरा / वह देख सकता है / श्रम की आंच में तपे इनके चेहरे।

इनके चेहरों पर / अपनी साँवली आभा के साथ / दिपदिपाता है हमारा लोक। (लोक का चेहरा, असुन्दर सुंदर, पृ 53)

आज 'जाँत' की पिराई और 'बिदेसिया' लोकगीत के साथ-साथ लोक का यह रूप भी गायब होता जा रहा है।

लोक में प्रचलित गोधन पर्व को भी कवि ने अपनी कविता 'वे उड़ती हैं गौरैयों की तरह' में जगह दी है। इस पर्व के माध्यम से वे हमारी लोक संस्कृति और लोक परंपरा को रेखांकित करते हैं। गाय के गोबर से गोधन बनाकर बहनें अपने भाइयों की लंबी उम्र और सुखी जीवन की प्रार्थना करती थीं- वे गाती हैं गीत / अपने भाइयों के लिए / और प्रार्थना करती हैं उनके / लम्बे और सुखी जीवन की। (वे उड़ती हैं गौरैयों की तरह, असुन्दर सुंदर, पृ 99)

तीसरे पहर तक निर्जला रहकर वे 'व्रत की आंच में तपकर' भी 'गौरैया' की तरह उड़ती रहती थीं। पर आज महानगर के जीवन में ये संस्कृति लुप्त हो चुकी है। गोबर की पीढ़ियों से गोधन बनाना और लोकगीत गाना आज लज्जा की बात लगती है। यह महज एक पर्व नहीं था। यह भाई-बहन केअटूट प्रेम और विश्वास का प्रतीक था। यह हमारी एक सांस्कृतिक पहचान थी, जो आज खोती जा रही है।

इनकी कविताओं में लोकोक्तियाँ भी खूब आई हैं। एक कविता है 'पूस'। 'पूस' की शीतलहरी में कवि के लोक के'गांठ के पैसे' 'दावा-दारू' में खत्म हो गए हैं। हाड़ को कंपा देने वाली कड़ाके की इस ठंड में जानवर और इंसान का भेद खत्म हो गया है। माल-जाल 'मलमूत्र' के बीच काँप रहे हैं और इंसान गठरी बना हुआ है। पूस की शीतलहरी मकर संक्राति की खुशी को भी निगल जाती है। उनके घरों से 'खिचरी' और खुशी दोनों गायब हो जाती हैं। फिर भी वे इस विकट परिस्थिति को हँसी में उड़ा देते हैं- दाँत किटकिटाते कहता है लोकाई / बाँधो गाँती / बाँधो मफलर / घुसी हवा जो कान में / निकल जाओगे जहाँ से। (पूस, असुन्दर सुंदर, पृ 55)

इस कविता में कवि लोक के शब्दों का बेधड़क इस्तेमाल करता है। जैसे- गोरू, गठरी, कौड़ा, शीतलहरी, दवा-दारू, गांती, जहान आदि। लोक के इन शब्दों के लुप्त होते जाने की प्रक्रिया से भी कवि चिंतित दिख रहा है। 'विसुटुइया', 'भक्जोन्हिया', 'तरकारी' और 'भात' जैसे अनेक शब्द हमे 'गँवारू' लगने लगे हैं।

शब्दों की तरह ही लोक की कुछ पुरानी वस्तुओं के गायब होने की आशंका से कवि का हृदय व्यथित हो उठता है। एक कविता है- 'दिल्ली में लालटेन'। कवि को यह बात बहुत परेशान करती है कि दिल्ली जैसे महानगर की घरों में कहीं भी लालटेन के लिए जगह नहीं है। यह दिल्ली ही नहीं बंबई, कोलकाता, चेन्नई या भारत का कोई भी शहर हो सकता है। सच्चाई

यही है कि इन शहरों की घरों में और उन घरों में रहने वाले लोगों के जीवन में कहीं भी 'लालटेन' के लिए जगह नहीं है। उस वास्तुकार के नक्शे में भी नहीं/ जिसने आँखें खोली थीं लालटेन की रोशनी में ही (दिल्ली में लालटेन) नई संस्कृति में यह उपेक्षित होती जा रही है। कवि विचलित हो प्रश्न करता है- मैं अपनी लालटेन को कहाँ रखूँ /किस ताख पर / किस दियाठी पर / कहाँ टांग दूँ / किस खूटी पर। (दिल्ली में लालटेन, असुन्दर सुंदर, पृ 28)

ध्यान दीजिये यहाँ 'ताख', 'दियाठी' और 'खूंटी' तीन शब्द आए हैं। इन तीन जगहों पर ही लालटेन रखा या टांगा जाता था। आज घर के नक्शे से 'ताख', 'दीयाठी' और 'खूंटी' गायब हो गया है। यह स्थिति सिर्फ शहरों में ही नहीं बल्कि गांवों में भी हो चली है। यहाँ कवि की बेचैनी और चिंता काल्पनिक या बना०टी नहीं है। उनकी इस बेचैनी में उस संकट का अंदाजा लगाया जा सकता है, जिसकी तरफ वे इशारा कर रहे हैं। कवि इस बात के लिए बेचैन है कि उसकी सांस्कृतिक धरोहर नष्ट होती जा रही है, उसके लिए कोई जगह नहीं। कवि की बेचैनी निरर्थक नहीं है।

इसी तरह की एक और कविता है- 'दिल्ली में बेना'। 'बेना' यानी 'हाथ पंखा'। शायद आज की नयी पीढ़ी 'बेना' भी नहीं समझती होगी। 'बेना' है बहुत काम की चीज खुद पसीने से तर-ब-तर होकर भी दूसरे के पसीने को सुखाती रहती है। इसका भी दुर्भाग्य इसके साथ-साथ चल रहा है। आज ये भी खत्म होती जा रही है। अब न तो 'वेना' वनाने वाले रह गए हैं और न इसका इस्तेमाल करने वाले। बांस की कमचियों से बनता था वेना, लेकिन आज बाजार में प्लास्टिक का दिखता है 'बेना'। जिससे वह हवा और ताजगी नहीं मिलती जो मिलती थी 'वेना' से। लेकिन कवि दिल्ली में रहते हुये भी अपने गाँव से 'लालटेन' और 'वेना' लेकर आया है। जब दिल्ली में एक रात- न हवा थी न रोशनी / आशा डूब रही थी / अंधेरे के समुन्द्र में। (दिल्ली में बेना, असुन्दर सुंदर, पृ 108)

तब यही लालटेन और बेना काम आया था। इसी से दूर हुआ था घर का अंधेरा और 'बेना' की ठंडी हवा में बीती थी बोझिल रात।

आधुनिकता के इस दौर में 'पीढ़ा' भी उपेक्षित होता जा रहा है। 'पीढ़ा' महज लकड़ी का सामान नहीं है। वह हमारा आधार था। सम्मान का प्रतीक था। घर आए मेहमान को ऊंचा पीढ़ा मिलता था/ दुश्मन को भी। (पीढ़ा)

'लालटेन' और 'पीढ़ा' की तरह आज 'बैल' भी कम होते जा रहे हैं और इनके साथ कम होता जा रहा है- एक फाल वाले वे हल / जिन्हें खींचते हैं एक जोड़ी बैल/ बैल / हाँ भाई, बैल / खत्म होती जा रही है जिनकी उपयोगिता। (बैल, अनभै कथा, पृ 45)

आज उस बैल की उपयोगिता खत्म हो रही है जिसके कंधों ने सबसे पहले हमारी नाक को अनाज की सुगंध तक पहुंचाया था। कवि हमें यह बताना नहीं भूलता कि- मटर के हरेपन में / सरसों के पीलेपन में / अरहर की जड़ में / जो चीज सबसे पहले घुसी होगी / वह पसीना रहा होगा बैलों का। (बैल, अनभै कथा, पृ 45)

बैल के पसीना बाद जो दूसरी चीज घुसी होगी इन फसलों की जड़ों में वह होगा, किसान का पसीना। विडम्बना तो देखिये, आज बैल और किसान दोनों कम होते जा रहे हैं। ये दोनों समय की दौड़ में पिछड़े साबित हो गए हैं। संसद में बहस होती है इन्हीं पर, पर इनके काम नहीं आती। यदि यही स्थिति रही तो शायद किस्से-कहानियों में सिमटकर रह जाएँगे किसान और बैल। हम सुनाएँगे अपने बच्चों को 'एक किसान था, जिसके पास एक जोड़ी बैल था।' पर हम दिखा नहीं सकते किसान और बैल को जैसे आज हम दिखा नहीं पाते राजा-रानी या राजकुमार-राजकुमारियों और परियों को।

जितेन्द्र श्रीवास्तव के यहाँ 'पीढ़ा', 'छाता', 'लालटेन', 'लुंगी', 'चाय', 'कटोरी', 'पानी', 'पहाड़', 'नदी', 'खेत', 'कुदाल', 'बंसुला', 'खुरपी', 'घुन', 'खटिया', 'धतूरा', 'भुट्टा', 'मकई', 'रेल', 'बस', 'दूब', 'धूप', 'गोबर', 'चिड़िया', 'पतंग', 'हवा', 'स्टेशन', 'सूर्य', 'घर', 'सूप', 'दलिद्दर' आदि जैसा काव्यबिम्ब दिखता है। केदारजी की ही तरह इनके यहाँ भी ठेठ गवई वातावरण के शब्द मिलते हैं। ये सारे बिम्ब और शब्द हमारे सामने एक चित्र उपस्थित कर देते हैं। थोड़ा लिखना और बहुत समझना वाली उक्ति इनके यहाँ चरितार्थ होती है। इसीलिए मैं कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव को केदारनाथ सिंह की परंपरा का कवि कहता हूँ। ये दोनों कवि उस पीढ़ी की संवेदना को भी छू रहे हैं।

नदी के पेट में गाँव, घर और खेत समा जाने के बाद 'रामबचन भगत' पिछले 20 वर्षों से दिल्ली में सब्जी बेच रहा है। लेकिन इन 20 वर्षों में कभी भी उसे 'सरपुतिया' सब्जी नहीं मिली। यहाँ के लोग 'तरोई' और 'नेनुआ' दोनों को 'तोरी' ही कहते हैं। जब उससे कोई 'घेंवड़ा', 'तरोई', 'लौकी' या 'कोंहड़ा' पूछता है तो वह आश्चर्य से उसे देखने लगता है। महानगर के जीवन में यह लोक शब्द धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे हैं। दो भोजपुरिया लोग भी महानगर में अपनी लोकभाषा में बात न करके हिन्दी में बोलते हैं। रामबचन कहता है- वैसे देखिये तो कितना अजब है / कि हम दोनों भोजपुरिये हैं / फिर भी नहीं बोल रहे भोजपुरी। (रामबचन भगत, असुन्दर सुंदर, पृ 112)

वह चाहता है जब कभी हम मिलें तो उस तरह मिलें- जैसे मिलती हैं / अलग-अलग दिशाओं में ब्याहीं दो सखियाँ । (वही)

पर हम वैसे बेफिक्री से नहीं मिल पाते। जब भी हम मिलते हैं बीच में आ जाता है महानगर ! गाँव से भागे लोग गाँव की तरफ नहीं लौट रहे हैं। लेकिन हमारी पहचान गाँव से ही है। आज भी जब हमसे कोई पूछता है आप कहाँ के हैं तो हम अपने गाँव-जिला का नाम बताते हैं। हमारी अस्मिता जुड़ी है अपनी 'डीह' से। उससे अलग करके अपने आप को हम नहीं देख पाते।

आजादी के बाद भारतीय गाँवों का तेजी से विघटन शुरू हुआ। रोजी-रोटी की तलाश में गाँव के लड़के बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और पंजाब जैसे शहरों में बिला गए। इनके जाने से गाँव में एक मनहूसियत-सी छा गयी। इनके साथ गाँव से कबड्डी, गुल्ली-डंडा और चिक्का जैसे

खेल भी चले गए। बिला गए वे भी शहर की गलियों में। गंवई जीवन से जुड़े जितेन्द्र श्रीवास्तव को यह मनहूसियत कचोटती है। गाँव की 'घनघोर नीरवता' उन्हें भीतर तक बेचैन कर जाती है। इस 'नीरवता' ने रात और दिन की दूरी को खत्म कर दिया है। वे बड़े दुख के साथ लिखते हैं- देखते ही देखते / गाँव से छोकड़े गए / मन से हुलास / इमली से खटास गई / आम से मिठास / महुए से रस गया / आँखों से नींद / देखते ही देखते / आ गए कैसे दिन कैसी रातें। (कैसे दिन कैसी रातें, अनभै कथा, पृ 110-111)

गाँव से सिर्फ लड़के ही नहीं गए उनके साथ गाँव की मिठास, खटास, हुलास और रस भी चली गयी। एक आदमी के जाने से कितना कुछ छूट और टूट जाता है इसका हम अंदाजा भी नहीं लगा सकते। पहले रात में फैलने वाली नीरवता आज दिन में ही दिख रही है। 1990 के बाद से तो गाँवों की स्थिति और बदत्तर हुई है। कच्ची उम्र के छोकड़ों की छोड़िये आज वृद्ध भी गावों में नहीं रहना चाहते। कारण, विकास की इस आँधी में गांवों में न तो पानी है, न बिजली और न ही अन्न। इस स्थिति की किसी ने कल्पना नहीं की थी कि गाँव जाने के बाद अपने दुआर पर अकेले बैठना पड़ेगा। आज गांवों में न कोई बोलनहार है और न कोई पूछनहार। घर 'रिश्तों' की आँच से बनता है और मकान ईंट-पत्थरों से। कवि का 'वह घर' खो गया है जहाँ रिश्तों की आँच थी। पुराने घर को याद करते हुए कवि सोचता है- घर में भिनुसारे उठते थे बाबूजी / डाल देते थे गाय को लेहना / लगा देते थे दुआर पर खरहरा / माँ बुहार देती थी आँगन / सूरज की पहली किरण चमाचम घर से टकराती थी / अमीरी नहीं थी वहाँ / जीवन था / आँच थी रिश्तों की / वह घर / घर लगता था / मकान नहीं। (वह घर, इन दिनों हालचाल, पृ 25)

कवि जिस घर की बात कर रहा है कम से कम वह घर महानगर के जीवन में तो नहीं ही मिल सकता। महानगर के जीवन में न तो भिनुसहरा है, और न बाबूजी। यहाँ गाय, लेहना, दुआर, खरहरा और आँगन भी नहीं है। यहाँ सूरज की पहली किरण चमाचम घर से नहीं टकराती। यहाँ रिश्तों में आँच नहीं इसलिए बाबूजी और माँ साथ नहीं।

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव किसानों की व्यथा को, उनकी पीड़ा और तकलीफ को लेकर बेहद चिंतित हैं। वे किसान की दुर्दशा को ठीक-ठीक जानने के लिए इतिहास तक को खंगाल डालते हैं। वे हर उस बात को, विचार को, मान्यता को प्रश्नांकित करते हैं जो भ्रम फलाने वाली है। वे कहते हैं- किस क्षण किस भावुकता किस राष्ट्रीयता बोध में / लिखा होगा गीतकार ने / 'जहां डाल-डाल पर सोने की चिड़िया / करती है बसेरा / वो भारत देश है मेरा' (हमारा देश, कायांतरण, पृ 41)

कवि के अनुसार यह राष्ट्रीयता बोध कम भावुकता अधिक है। कवि का ऐसा सोचना गलत भी नहीं है, आप भी भावुकता का परित्याग कर यह सोंचे कि यदि यहाँ डाल-डाल पर सोने की चिड़िया बसेरा करती थी या करती है तो वह कहाँ गयी? लाख समझाने के बाद भी मन इस बात को नहीं मानता कि- यदि ऐसा है / या था /तो गरीबी और ज़लालत का लंबा

इतिहास / कैसे पसरा रहा लोगों के सिरहाने। (हमारा देश, कायांतरण, पृ 41)

हाँ, एक बात की संभावना जरूर है कि यह कुछ लोगों का सच हो, कुछ लोगों के लिए यह गीत सही हो, उनके लिए डाल-डाल पर सोने की चिड़िया बसेरा करती हो। लेकिन यह हमारे देश के लाखों-करोड़ो किसान-मजदूरों का न कभी सच था और न ही आज है।

जितेन्द्र जी ने लोककथा को भी कविता का आधार बनाया है। उनकी चर्चित कविता 'सोनचिरई' भोजपुरी जनपद की एक 'लोककथा' को आधार बनाकर लिखी गई है। जिसे हम 'लोकगीत' भी कह सकते हैं। यह लोकगीत पुत्र-जन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। इस गीत को लोक में 'सोहर' कहा जाता है। 'सोनचिरई' की शुरुआत लोककथा की तरह ही होती है। कविता की पहली पंक्ति है- बहुत पुरानी कथा है / एक भरे-पूरे घर में / एक लड़की थी सोनचिरई। (सोनचिरई, इन दिनों हालचाल, पृ 19)

बचपन में दादी द्वारा सुनाई गई कथाओं की शुरुआत भी कुछ इस तरह से होती थी– बहुत पहिले के बाद ह/ एगो गाव में/ एगो राजा रहे। (स्मृति के आधार पर)। कहने का अर्थ यह है कि जितेन्द्र श्रीवास्तव के हांथों में आकर भी 'लोककथा' का मूल स्वर और मूल भाव नहीं बदलता।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की बड़ी विशेषता यह है कि महानगर में रहने के बाद भी उनसे उनकी संस्कृति नहीं विसरती। वास्तव में यही वह जगह है, जहां से खड़े होकर जितेन्द्र श्रीवास्तव चीजों को देखते हैं। कभी-कभी यह समझना बहुत कठिन हो जाता है कि लोक कवि के भीतर गहरे रूप में मौजूद है या कवि लोक के भीतर वे अपने लोगों से हाथ मिलाने की जगह धधाकर मिलते हैं और समाचार की जगह हालचाल पूछते हैं। जितेन्द्र को पढ़ना अपने लोक से गुजरना और मिलना है।

देखते हैं कि केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी और जितेन्द्र श्रीवास्तव सभी अपनी-अपनी संस्कृति, परंपरा, इतिहास, अस्तित्व और निजी पहचान को लेकर बेहद चिंतित हैं। सिर्फ ये ही नहीं बल्कि आज का हर सजग और सचेत कवि अपनी संस्कृति, संस्कार और निजी पहचान को लेकर चिंतित है। वह लगातार अपनी कविता के माध्यम से इन चुनौतियों से हमें आगाह करा रहा है। एक सजग नागरिक का दायित्व निभा रहा है। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह अपने लिए चिंतित है, वह अपने लिए नहीं बल्कि आपके लिए, आने वाली नयी पीढ़ी के लिए चिंतित है। वह लगातार इस कोशिश में लगा हुआ है कि हमारी नयी पीढ़ी को अपने इतिहास का बोध रहे। यहाँ एक प्रश्न मन में उठता है कि क्या हम - आप भी इसके लिए चिंतित हैं? इस पर एक बार गंभीरता से जरूर सोचिएगा।

भूमण्डलीकरण और समकालीन कविता

—मीरा साव

समकालीन हिन्दी कविता सातवें दशक और उसके बाद की कविता या 'साठोत्तरी कविता के नाम से जानी जाती है। समकालीन हिन्दी कविता का दृश्य बहुआयामी है। इसमें विचारों की अंतर्धारा भी अनेक आयामी है जो ज्ञानात्मक संवेदना का रचनात्मक संदर्भ देती है। बहुमुखी प्रतिभा के सम्पन्न कवि इसके पक्षधर हैं। इसलिए समकालीन कविता में मनुष्य की प्रतिमा-स्थिर, जड़, निष्क्रिय और दार्शनिक नहीं है। उसमें चित्रित आदमी की शक्ल है जिसे पहचाना जा सकता है, आदमी का परिवेश है जिसमें वह जीता है और आदमी का संसार से सम्बन्ध है, जिसे वह बनाए रखना चाहता है। जबकि भूमण्डलीकरण के कारण हर तरफ बिखराव देखने को मिलता है जिसे समेटने का प्रयास एवं यथार्थ को बिना किसी लाग-लपेट के समकालीन कविता सामने प्रस्तुत कर देती है।

विश्व के मूलभूत ढाँचे को बदल कर एक नए साँचे का निर्माण है – वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण, घोषित रूप से यह कहा जा सकता है कि विकास ही इस साँचे की रीढ़ है। यह विभिन्न कोशिकाओं का एक ऐसा मजबूत जाल है, जिसका चेहरा ही है नव-साम्राज्यवाद। उदारीकरण एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हस्तक्षेप के कारण खुली बाजारवाद ने भारत जैसे देश में भी साम्राज्यवाद को जन्म दिया। अतः इस भूमण्डलीकरण के कारण जितनी तेजी से परिवर्तन हुआ उतना ही तेजी से जीवन शैली भी प्रभावित हुई। यही वजह है कि जहाँ एक ओर विस्तार हुआ है तो दूसरी ओर संकीर्णता भी बढ़ी है। यह संकीर्णता न केवल राजनीति के क्षेत्र में बल्कि धार्मिक क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ा। धार्मिक क्षेत्र में बढ़ावा देने के कारण जाति के नाम पर मनुष्यों को विभाजित करने वाली शक्तियाँ पूर्ण रूप से सक्रिय हो गई। हर तरफ हिंसा और आतंक का ऐसा माहौल तैयार हो गया कि साँस लेना भी दूभर हो गया, इन सारी परिस्थितियों ने मिलकर दिशाहीनता की स्थिति पैदा कर दी है जिसका जिक्र समकालीन कवि केदारनाथ सिंह 'उत्तर कबीर' कविता में करते हैं – "खड़ा है / कि लेटा हूँ / कि झूल रहा हूँ / यह कैसा समय है कि सारी क्रियाएँ / एक-सी लगती है? / जाना चाहता हूँ / लेकिन कहाँ? / यह हर

'यहाँ' के बाद / एक चीखता हुआ 'कहाँ' / कहाँ से चला आता है हर बार?"[1]

प्रस्तुत कविता में कवि का समाज के प्रति चिन्ता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। समकालीन कवियों की दृष्टि न केवल समाज में बढ़ती मानव-हिंसा और विखण्डता, सांस्कृतिक विकृतिकरण, राजनीतिक, अपराधीकरण, धार्मिक कूपमण्डूकता, सामाजिक राजनीतिक भ्रष्टाचार की ओर गई बल्कि अत्याधुनिक टेक्नालॉजी और पर्यावरण प्रदूषण के कारण क्षतिग्रस्त हो रहे प्रकृति की ओर भी देख रहे थे। इन परिस्थितियों का सामना करते हुए वे अन्य रास्ता तलाशते है तथा इनके प्रतिपक्ष में खड़े होकर ये कवि अपनी कविता में एक संसार निर्मित करते हैं।

समकालीन कविता में बदल रहे समय को करीब से देखा गया, उसे जाना गया और उसे रेखांकित करते हुए अपनी पक्षधरता भी बताई गई है। वैश्वीकरण के कारण सब कुछ बदल रहा है अर्थात् पुराना धीरे-धीरे सिमट रहा है और नया का विस्तार हो रहा है, इस तरह की स्मृति भी धोखा खा जाती हैं – "यहाँ रोज कुछ बन रहा है / रोज कुछ घट रहा है / यहाँ स्मृति का भरोसा नहीं / एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया / जैसे वसन्त का गया पतझड़ को लौटा हूँ / जैसे वैशाख का गया भादों को लौटा हूँ / अब यही है उपाय कि हर दरवाजा खटखटाओ / और पूछो – / क्या यही है वो घर? / समय बहुत कम है तुम्हारे पास / आ चला पानी ढहा आ रहा अकाल / शायद पुकार ले कोई पहचाना ऊपर से देखकर।"[2]

अतः देखा जाए तो स्मृति के साथ-साथ समय पर भी भरोसा नहीं रहा। लेकिन अब भी मानव पर भरोसा बना हुआ है कि शायद कोई पहचानकर बुला ले। एक संसार ऐसा भी है जहाँ मनुष्य-मनुष्य को धोखा देता है, उसके साथ छल-प्रपंच रचता है, मनुष्य-मनुष्य को ही मार-काट रहा है। लेकिन फिर भी मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास बना हुआ है। समकालीन कविता में मानव और मानवीय सम्बन्धों में आस्था व्यकत की गई है। यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी दौर में सम्बन्ध स्वार्थों पर टिका हुआ है। इस कारण अब सम्बन्ध भी फालतू प्रतीत होने लगा है। भूमण्डलीकरण के कारण जो बिखराव हुआ, उसे समकालीन कवि अपनी कविता में समेटने का प्रयास अवश्य करता है। समकालीन कवियों ने जहाँ अपनी कविता में परिवार, समाज, माँ, पिता, भाई-बहन के साथ पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों को दिखाया है वहीं उसके बीच के प्यार, दुःख और अभाव को भी दिखाते हैं।

अतः समकालीन कवि पारिवारिक सम्बन्धों को बचाने के साथ-साथ वे सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव को भी लाने के पक्ष में है। श्रमिकों, किसानों, मजदूरों और आर्थिक दृष्टि से समाज के निचले तबके के लोगं को भी सहज मानवीय संवेदना के साथ अपनी कविता में युवा कवि बोधिसत्व लिखते हैं - "मैं चाहता हूँ सूर्य की लौ और / पहाड़ों की रंगीनी की बात हो / पर तमाम सूख रही देहों के / मारे-मारे / फिरने की ही/ बात क्यों न हो / सबसे पहले।"[3]

जन-जीवन के प्रति लगाव होने के कारण ये कवि जीर्ण अवस्था में जी रहे लोगों की बात को पहले कहता है क्योंकि वे अन्याय के खिलाफ, अन्याय को बढ़ावा देने वाली पूँजी और पूँजी को प्रश्रय देने वाले बाजार के प्रति सतर्क है।

यह सही है कि पूँजी केवल मनुष्य को उपभोक्ता बनाकर छोड़ती है, वह मनुष्य को भौतिकता से सम्पन्न बनाती है पर उसकी सारी संवेदनाएँ छीन लेती है। अतः बाजारवाद के कारण मनुष्य अपनी इच्छाओं और कामनाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता और इस दौड़ में इतना आगे निकल जाता है कि पीछे मुड़कर देखने के लिए भी उसके पास समय नहीं रहता। यही है पूँजी का सच। पर अभावहीन दुनिया में पूँजी एक आतंक बनकर गिरती है। जिसका उल्लेख राजेश जोशी अपनी कविता में करते हैं – "एक सिनेमाघर के सामने छूटी हुई जगह में / एक नए मॉडल की चमचमाती कार /एक विकलांग बच्चे को डरा रही है।"[4]

मानव का विरोध करना उपभोक्तावाद का मूल चरित्र है। वह एक ऐसा जाल बुनता है, जिसमें हिंसा, छल-कपट, रूपी प्रपंच पलता रहता है। समकालीन कविता मानव विरोधी शक्तियों की ओर बार-बार ईशारा करती है। एकान्त श्रीवास्तव के अनुसार– "मारे गए युद्ध में सब कथाओं के राजा / ढह गए किले / टूट गए मुकुट / उन पर गिरती गई समय की धूल / हथियार सभी हो गए भोथरे / मगर मानुष को मारने की कला रही जीवित / जीवित रहे कला पारंगत / जीवित रहा उनका तंत्र।"[5]

इन पंक्तियों में यथार्थ की पूरी झलक देखी जा सकती है। नव-साम्राज्यवादी नीतियों के कारण जो मनुष्य कमजोर है उसके जीने के अधिकार कम होते जा रहे हैं, अपने युग और समय से रूबरू होने के दौरान समकालीन कवि उसे भयावह पाते हैं। लीलाधर जगूड़ी के अनुसार - "धाँय से वसन्त आया / खून से नहाया / ताजा लाशे लाय /" ऐसे समय में कुछ भी सुरक्षित नहीं है, न प्रकृति, न मनुष्य – "गुजरते समय की देह जबकि लहूलुहान है / सुरक्षित नहीं है कुछ भी जब / न जंगल, न नदी, न समुद्र, न मनुष्य।"[6]

भूमण्डलीकरण के कारण नष्ट हो रही प्रकृति, छीज रही संस्कृति और पतन की ओर उन्मुख हो रहे मानव-समाज को बचाने की चिन्ता समकालीन कवियों की कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। आज की बढ़ती हुई मानव-हिंसा और बिखण्डन का सामना करते हुए ये कवि इनके प्रतिपक्ष में मानवीय सम्बन्धों तथा भावनाओं की स्थापना करते हैं – "पीताभ हरित / खूब उकसे हैं पत्ते / चमकदार / पेड़ों के पास / यही एक तरीका है बताने का / कि वे भी दुनिया को प्यार करते हैं।"[7]

अतः भूमण्डलीकरण के दौर में समकालीन कवियों का रूख स्पष्ट है। समकालीन कवि भूमण्डलीकरण का विरोध नहीं करते बल्कि उसके मानव विरोधी रूप का विरोध करते हैं। समकालीन कवि अपने समय तथा व्यवस्था को देखते हुए उसका सामना करते हैं, उससे टकराते हुए उसके यथार्थ से रूबरू होते हैं तथा एक स्वस्थ एवं सुन्दर मानवीय परिवेश की स्थापना करते हुए दिखते हैं। इस प्रकार समकालीन कवियों ने अपने युग तथा समय को देखते-परखते हुए तर्क एवं विवेक का परिचय दिया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. केदारनाथ सिंह, उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, पृष्ठ - 133
2. अरुण कमल, नये इलाके में, पृ.-13-14
3. सं. असद जैदी एवं विष्णु नागर, यह ऐसा समय है, पृ.-126
4. राजेश जोशी, दो पंक्तियों के बीच, पृ.-90
5. एकान्त श्रीवास्तव, बीज से फूल तक, पृ.-124
6. वर्तमान साहित्य, कविता विशेषांक, पृ.-239
7. वीरेन डंगवाल, इसी दुनिया में, पृ.-80

समकालीन कविता में मानव संसक्ति

—शगुफ्ता यास्मीन

कविता साहित्य की सबसे प्राचीनतम एवं आदिम विधा है, किन्तु कहानी, नाटक तथा उपन्यास की तुलना में आज यह कुछ कम लोकप्रिय है इस सच को भी पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता है। इस चुनौती के साथ ही कविता में अपने में पुनर्नवता की अनंत संभावनाएँ समेटे हुए है। समकालीन सोच से जुड़कर समकालीन कविता सामाजिक परिवर्तन के एक सांस्कृतिक अस्त्र के रूप में हमारे सामने आती है। समकालीन कविता जहाँ एक ओर वैश्वीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, साम्प्रदायिकता, अंधाधुन्ध विकास नीति इत्यादि का विरोध करती है तो दूसरी तरफ इसने हाशिए पर पड़े हुए समाज तथा उसकी विविधमुखी समस्याओं को वाणी दी है। स्त्री, दलित, आदिवासी अस्मिता को एक नई पहचान देने में समकालीन कविता ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

समकालीन कविता बहुआयामी है, उसके कई रूप, कई रंग तथा कई अर्थ हैं। इन अर्थों में एक तत्त्व प्रमुख है, वह है उसकी मानव संसक्ति। समकालीन कविता मानवता की तरफदारी करके अपने इतिहास का विकास करती आ रही है, मानवता का इतिहास रच रही है।

भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में जब मनुष्य तथा उससे संबंधित भावनाएँ एक प्रोडक्ट के रूप में तब्दील हो चुकी हैं, ऐसे कठिन समय में समकालीन कवि संकटग्रस्त कौंधते मानव जीवन के प्रति अपनी आस्था नहीं खोते बल्कि मानव को यंत्र के रूप में बदलने वाले इस वर्तमान अपसंस्कृति जो अविवेक की संवाहक है, के दुष्परिणामों के प्रति मनुष्य को चैतन्य करते हैं। लीलाधर जगूड़ी की पंक्तियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं – "चीजों के बारे में सोचना अब सरल नहीं रह गया है। / क्योंकि चीजें बी अब हमारे बारे में सोचने लग गयी हैं / यहाँ तक कि आपकी चप्पल आपको / अच्छा आदमी समझने लगी है।"[1]

वर्तमान समय की भयावहता के बीच मानवीय आस्था एवं जिजीविषा को दीप्त करने वाले समकालीन कवियों की फेहरिस्त काफी लम्बी है, जिनमें निराला, धूमिल से लेकर

केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूड़ी, अरुण कमल, आलोक धन्वा, एकान्त श्रीवास्तव, नरेन्द्र मोहन, ज्ञानेन्द्रपति, पंकज चतुर्वेदी, कुमार अंबुज, जितेन्द्र श्रीवास्तव इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, साथ ही अनामिका, कात्यायनी, शुभा, निर्मला पुतुल, अमृता भारती, निर्मला गर्ग, अनिता वर्मा आदि कवयित्रियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई है।

'अकाल में सारस' केदारनाथ सिंह का काव्य संग्रह है। इस संग्रह की रचनाएँ जीवनोत्सव की रचनाएँ हैं। यह जीवनोत्सव मानवता का जीवनोत्सव है तभी तो केदारजी लिखते हैं – "यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा / मैं लिखना चाहता हूँ।" / क्योंकि कवि का मानना है कि – / "खुश हूँ - आती है रह-रहकर / जीने की सुगंध बह-बहकर।"[2]

अपनी सादगी के लिए पहचाने जाते समकालीन कवि अरुण कमल की कविता से जीवन की ऊर्जा प्राप्त होती है। अरुण कमल की कविता समाज के उन स्तरों तक जाती है, जो सामाजिक प्रगति तथा मानव मूल्यों के विकास में बाधा है। आलोचक वीरेन्द्र मोहन ने अरुण कमल की इस जन पक्षधरता को रेखांकित करते हुए लिखा है – "अरुण कमल की कविता धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि की तमाम संकीर्णताओं को तोड़ना चाहती है। तोड़ना इसलिए चाहती है क्योंकि इससे मानवीयता का क्षरण होता है। संवेदनाओं के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं होता तथा हिंसक और खतरनाक कारक व्यक्ति तथा समाज के विनाश का कारम बनते हैं और यही प्रवृत्तियाँ मानवीय प्रेम, करुणा, दया, परोपकार जैसे भावों का नाश करती है, जिससे मनुष्यता कराहती है।"[3]

अरुण कमल की कविता जहाँ भी मनुष्यता कराह रही होती है, वहाँ पहुँचती है क्योंकि यह कविता आज चेतना की भी कविता है –

"जैसे / मैं बहुत सारी आवाजें नहीं सुन पा रहा हूँ / चींटियों के शक्कर तोड़ने की आवाज / पंखुड़ी के एक-एक कर खुलने की आवाज / गर्भ से जीवन बूँद गिरने की आवाज / अपने ही शरीर में कोशिकाएँ टूटने की आवाज / इस बहुत तेज चलती पृथ्वी की अन्धड़ में / जैसे बहुत सारी आवाजें नहीं सुन पा रहा हूँ / वैसे ही होंगे वे लोग भी / जो सुन नहीं पाते गोली चलने की आवाज ताबड़तोड़ / और पूँछते हैं – कहाँ है पृथ्वी पर चीख?"[4]

'सबूत' संकलन की 'एकालाप', 'हत्यारा', 'मानुष गंध', 'आखिर हर्ज को क्या है', 'बुढ़ापा' आदि कविताएं गहरे युगबोध तथा मानव संसक्ति की परिचायक हैं।

बुलेट ट्रेन की रफ्तार से भी तेज दौड़ती विकासवादी नीतियों ने मनुष्य को मशीन में बदल दिया है। मानव का विकास बाहरी दृष्टि से तो हो रहा है किन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह शुष्क, खोखला तथा रीतेपन से भरता जा रहा है। बाजार ने मुनाफा तो कमाया-बढ़ाया है, किन्तु उसी अनुपात में मनुष्यता का क्षरण-हरण भी किया है। ऐसी विकट परिस्थतियों में बाजार से लड़ने के लिए कविता एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है क्योंकि कविता ही मनुष्य की आत्मा, उसके हृदय की नमी को बचा सकती है। इस सन्दर्भ में विनय विश्वास की पुस्तक 'आज की कविता' की निम्न पंक्ति का उल्लेख किया जा सकता है – "कविता मनुष्य की आत्मा का सर्वाधिक प्रतिरोधी

टीका है।"[5] मनुष्य पर मशीन के बढ़ते दबाव तथा बाजारीकरण के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर समकालीन कविता में सुना जा सकता है। क्योंकि मशीन कभी भी मनुष्य का सम्पूर्ण विकल्प नहीं हो सकता। ज्ञानेन्द्रपति की रचनाओं में मानव श्रम सौन्दर्य की ऊष्मा विद्यमान है। उनकी 'गंगातट', 'संशयात्मा' आदि काव्य संग्रह इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

देवेन्द्र आर्य की गजल उपभोक्ता समय की विडम्बना को ही व्यक्त करती है – "कूट नई है, धान पुराना / नामुमकिन है माँड़ पसाना।"

जाति व धर्म से परे मनुष्य की कल्पना संबंधी अवधारणा को साम्प्रदायिकता की रणनीति ने हमेशा चुनौती दी है। फिर चाहे देश के बँटवारे के समय होने वाला नरसंहार हो या गोधरा-गुजरात हत्याकाण्ड। मनुष्य और मनुष्यता को शर्मसार करती साम्प्रदायिकता विरोधी वैचारिकी को विकसित करने में समकालीन कविता की अपनी भूमिका है। नरेन्द्र मोहन अपनी लम्बी कविताएँ 'एक अदद सपने के लिए' तथा 'एक अग्निकाण्ड जगहें बदलता' द्वारा विभाजन, साम्प्रदायिकता, विघटनवाद आदि का सख्त विरोध करते हैं। राजेश जोशी की 'अन्तिम इच्छा', कात्यायनी की 'नये रामराज्य का फरमान', कुंवर नारायण की 'अयोध्या-92' चन्द्रकान्त देवताले की 'उन्नीस सौ वानबे' इत्यादि कविताएँ साम्प्रदायिक फासीवाद का खुलासा करती हैं।

समकालीन कवि स्त्री-दलित, आदिवासी और हाशिए का जीवन जी रहे मनुष्यों की बहुविध चिन्ताओं और संघर्षों का अंकन कर काव्य संसार में मानवता के आधे वृत्त को पूर्णता प्रदान करते हैं।

स्त्री विमर्श की सैद्धान्तिकी के बगैर भी स्त्री की स्वतंत्रता और अस्मिता के महत्वपूर्ण प्रश्नों की अनुगूँज समकालीन कविता में सुनी जा सकती है। राजेश जोशी, अरुण कमल, पवन करण इत्यादि की कविताओं में स्त्री की उपस्थिति महत्वपूर्ण है। सदियों से माँ, बहन, पत्नी के रूप में जीवन को संभाल और सँवार रही दबी, कुचली उपेक्षित नारी के प्रति गहरी आत्मीयता, अनुराग तथा कृतज्ञता की भावना समकालीन कवियों ने अभिव्यक्त की है।

स्त्री के खुलने-खिलने उसके स्वाभाविक विकास को रोकने की साजिश को राजेश जोशी अधोलिखित पंक्तियो में प्रकट करते हैं –

"हम औरतों के दिमाग में बचपन से ही / इतने डर बैठा दिये जाते हैं / कि जीवन में अक्सर हम एक सुरक्षित कोना ढूँढ़ लेना चाहती हैं / सच जानो औरतें उतनी व्यावहारिक होती नहीं हैं / जितनी वो दिखने की कोशिश करती हैं।"[6]

कात्यायिनी अपनी कविताओं में स्त्री को प्रतिवाद और प्रतिरोध की प्रेरणा तथा पितृसत्तात्मक समाज को पुरुषवादी मूल्यों के खिलाफ चेतावनी देती हैं – "रहस्यमय है इस स्त्री की उलटवासियाँ / इन्हें समझो / इस स्त्री से डरो।"[7]

समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले प्रमुख कवियों में रामदयाल मुण्डा, निर्मला पुतुल, रमणिका गुप्त, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, चन्द्रकान्त देवताले, एकान्त श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं।

मानव सभ्यता के आदि पुरुषों की सन्तान आदिवासियों को उनके परम्परागत जीवन जीने के आधारों अर्थात् जंगलों से उन्हें बेदखल करने का यह वक्त बड़ा भयावह है। विनोद कुमार शुक्ल इस समय की भयावहता को व्यक्त करते हैं – "जो प्रकृति के सबसे निकट हैं / जंगल उनका है / आदिवासी जंगल में सबसे निकट हैं / इसलिए जंगल उन्हीं का है / अब उनके बेदखल होने का समय है / जब आकाश से पहले / एक तारा बेदखल होगा / एक पेड़ से / पक्षी बेदखल होगा / आकाश से चाँदनी / बेदखल होगी - / जब जंगल से आदिवासी / बेदखल होंगे / जब कविता से एक-एक शब्द / बेदखल होंगे।"[8]

मानवता का निषेध करने वाली सदियों पुरानी वर्णवादी सोच के विरुद्ध प्रतिकार का तीव्र आक्रोशात्मक रवैया भी समकालीन कविता में अपनाया गया है। वर्तमान समय में समकालीन कवियों ने दलित जन-जीवन, उनके संघर्षों, कठिनाइयों, दलन, शोषण, अत्याचार को विभिन्न सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है। इसकी सहज अभिव्यक्ति मोहनदास नैमिशराय की कविता, 'आन्दोलन', कर्मशील भारती की 'कहाँ खड़े हैं', देवेन्द्र दीपक की 'राम की रिहाई', इत्यादि में मिलती है। समकालीन दलित कविता अतीत की पीड़ा की उपज है। उसके पीछे वेदना का लम्बा इतिहास है, जिसकी गूँज वर्तमान को बेचैन करती रहेगी। ओमप्रकाश बाल्मिकी के शब्दों में कहें तो –

"रामराज्य चला गया / पर शम्बुक की चीख की / अनुगूँज अभी बाकी है।"

कहने की आवश्यकता नहीं है कि समकालीन कविता मनुष्यता के व्यापक सरोकारों की कविता है तथा जीवन राग इसकी पहली महत्वपूर्ण पहचान है। आज का जीवन आतंक से घिरा होने पर भी अपनी उर्वरता नहीं खोता। समकालीन कविता ऐसे आम आदमी को केन्द्र में लाती है जिसमें आत्मबल अब भी बचा है। वह चुनौतियों को स्वीकार करता है, तमाम विपत्तियों, अन्यायों, सन्देहों और बेगानेपन के बावजूद उसमें संघर्ष करने का साहस है क्योंकि आदमियत पर उसका भरोसा नहीं टूटा है। निःसंदेह समकालीन कविता में वह शक्ति अन्तर्निहित है जो आम आदमी की जिजीविषा को उद्दीप्त कर उसे संभावनाओं में जीने एवं अनवरत संघर्ष करते रहने की प्रेरणा प्रदान करती है।

संदर्भ सूची

1. लीलाधर जगूड़ी, खबर का मुँह विज्ञापन से ढँका है, पृ.- 26
2. केदारनाथ सिंह, अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन, सं. 2010
3. समकालीन कविता के आयाम, सम्पादक - पी. रवि. पृ.- 177, लोकभारती प्रकाशन, सं. - 2013
4. अरुण कमल, नये इलाके में, वाणी प्रकाशन, सं. - 1996, पृ.- 63
5. विनय विश्वास, आज की कविता, पृ.-23
6. राजेश जोशी, मुलाकात, दो पंक्तियों के बीच, पृ.- 49
7. कात्यायिनी, सात भाइयों के बीच चम्पा, सं. - 1994, पृ.- 11
8. विनोद कुमार शुक्ल - वागर्थ, अंक - 185, दिसम्बर-2010

समकालीनता और धूमिल

—श्रीपर्णा तरफदार

आधुनिक हिंदी काव्य जगत में युगीन प्रभाव के अंतर्गत समकालीन शब्द विचारणीय है जो अंग्रेजी के कंटेम्पररी (contemporary) शब्द का हिंदी पर्याय है यह शब्द काल, व्यक्ति, समाज या प्रवृत्ति विशेष से जुड़ी हुई है। समकालीन या समकालीनता काल-बोधक शब्द है जो लम्बी अवधि का द्योतक है। समकालीन अपने में आधुनिक और अत्याधुनिक को समेटे हुए है। इस प्रसंग में डॉ रवीन्द्र भ्रमर का कथन उल्लेखनीय है : समकालीन अत्याधुनिक को अपने आप में समाहित किये हुए आधुनिक की पीठ पर स्थित काल-खंड है।[1] स्पष्ट है कि समकालीन एक व्यापक और बहुआयामी शब्द है एवं आधुनिकता का आधार तत्त्व है।

हिंदी कविता में समकालीनता का आग्रह सन् 1960 के बाद अधिक बढ़ा है क्योंकि इसके पूर्व नई कविता आन्दोलन, नई मानवीय सोच को लेकर आगे तो बढ़ी परन्तु उस सोच में न वर्तमान की सूझ थी न भविष्य के सपने वास्तव में प्रयोगवाद या नई कविता, साठोत्तरी कविता, अकविता, हिंदी कविता के विकास के ऐसे सोपान है जिन्होंने समकालीन कविता की संरचना के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया। सन् 1960 के आस-पास नई कविता का प्रभाव कुंठित और शिथिल होने लगा एवं विभिन्न काव्यान्दोलनों की भीड़ दिखाई देने लगी, जैसे- 'सनातन सूर्योदयी कविता', 'अपरम्परावादी कविता', 'युयुत्सावादी कविता', 'कबीर-पंथी कविता', 'बीट कविता', 'न कविता', 'विचार कविता', 'अकविता' इत्यादि समय-समय पर बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह उगने वाले इन काव्यान्दोलनों में कोई स्थायित्व नहीं था। ये विभिन्न काव्यान्दोलन समकालीनता की परिधि में आते हुए भी समकालीन नहीं माने जायेंगे। विशेषकर अकविता और उस जैसे विभिन्न काव्यान्दोलन क्योंकि उनमें कवियों की भटकी हुई मानसिकता और दिशाहीनता लक्षित होती हैं।

सन् 1962 के चीनी आक्रमण, सन् 1965 एवं सन् 1971 के पाकिस्तानी हमलों तथा सन् 1967 के नक्सलबाड़ी आन्दोलन से भारतीय राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की नींव हिल गई। सन् 1975 के आपातकाल ने जले पर नामक छिड़कने का कार्य किया

अकाल, महंगाई, चोरबाजारी, मुद्रास्फीति आदि विषम और क्रूर परिस्थितियों के कारण व्यवस्था का यथार्थ सामने आ गया और मोहभंग की स्थिति पैदा हो गयी। वास्तव में समकालीन कवियों की कविता मोहभंग की कविता है परंतु इस परिधि में अकवियों को शामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी मोहभंग की परिणति जुगुप्सा एवं सुषुप्ति में हो गई है।

समकालीन हिंदी कविता में मानवीय मूल्यों के धरातल पर काव्य सर्जना की गई है जिसमें आशा-निराशा, जीवन के संघर्षों से गुजरते हुए मानव का दर्द, परम्परावादी संकीर्णताओं से मुक्ति की कामना, भ्रष्ट व्यवस्था का विरोध, बदलते जीवन प्रसंगों आदि को अभिव्यक्ति मिली है। समकालीन कवियों ने उन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी हैं जो जीवन की निर्मम वास्तविकताओं से मन में उभरती हैं। इस दृष्टि से समकालीन कविता में यथार्थ की अन्विति हुई है। वास्तव में इन कवियों ने जीवन केहर पहलू को सच्चाई और ईमानदारी के साथ उद्घाटित किया है। बदलते राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश का चित्रण समकालीन हिंदी कविता में मिलता है। यह कोई प्रतिबद्ध काव्यान्दोलन नहीं है। यह समाज और मनुष्य से जुड़ी हुई कविता है। यह इन्सान से इंसानियत की खोज की कविता है। समकालीन हिंदी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गजानन माधव मुक्तिबोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, धूमिल आदि प्रमुख हैं।

समकालीन काव्यात्मक परिवेश में सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से समकालीन हिंदी कविता को एक नया मोड़ दिया। धूमिल ने समकालीनता की एक बुनियादी शर्त रख दी कि जिस साहित्य में स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा हो वही साहित्य समकालीन साहित्य है। धूमिल के शब्दों में : स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा और उसके लिए पहल तथा उस पहल के समर्थन में लिखा गया साहित्य ही समकालीन साहित्य है।[2] धूमिल केमात्र तीन काव्य-संग्रहों का ही प्रकाशन हुआ हैं : 'संसद से सड़क तक' (1972), 'कल सुनना मुझे' (1977), 'सुदामा पाँड़े का प्रजातन्त्र' (1984) इन काव्य संग्रहों में संकलित कुल 123 कविताओं के माध्यम से वे एक सशक्त हस्ताक्षर के साथ युवा हिंदी कविता के सिरमौर बन गए। उनकी कविताओं में जनतंत्र, आम आदमी का त्रस्त जीवन, भ्रष्टाचार, चुनाव, समाजवाद, संसद, संविधान जैसे मुद्दे व्यंग और आक्रोश के साथ निहित हैं। धूमिल की यही कोशिश रही है कि कविता को अधिकाधिक सार्थक बनाते हुए जिंदगी की सार्थकता की तलाश की जाये, अतः उन्होंने समाज में व्याप्त विभिन्न विषमताओं का भंडाफोड़ करने के लिए नुकीले तथा अचूक प्रहार किये हैं। उनकी कविताएँ स्वार्थप्रेरित शक्तियों के विरुद्ध लड़ती रहीं। धूमिल ने मानवीयता के लिए निरंतर संघर्षरत रहकर उसे एक नई इयत्ता देने का प्रयास किया।

धूमिल कविता का प्रयोजन यथार्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके लिए कविता एक शस्त्र है, एक हथियार है, जिसके माध्यम से वे विभिन्न विकृतियों को उद्घाटित करने का बीड़ा उठाते हैं। धूमिल कविता के द्वारा सक्रिय कार्रवाई करना चाहते हैं। 'मुनासिब कार्रवाई'

कविता में कविता को लेकर धूमिल की संवेदना और चिंता स्पष्ट हुई हैं। उनका मानना है कि कविता कोई पहनावा नहीं है जिसे किसी तरह काट-छांट कर बनाया जाये बल्कि वो असहाय और बेकसूर आदमी को न्याय दिलाने की शक्ति रखती है। इस परिप्रेक्ष्य में उसका यथार्थ से जुड़ना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। धूमिल प्रश्नोत्तर शैली में कविता के अर्थ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं : कविता क्या है ? कोई पहनावा है ?/ कुर्ता-पाजामा है ? 'ना, भाई, ना,/ कविता-/ शब्दों की अदालत में/ मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का/ हलफ़नामा है'।[3]

धूमिल अपनी कविताओं के माध्यम से इसी काव्यादर्श को सामने रखते हैं कि कविता को आम जन से जुड़ना चाहिए। उनके अनुसार समसामयिक परिवेश एवं जन-जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत करना एवं आम जनता को जीवन के सही परिप्रेक्ष्यों से परिचित कराते हुए उसे सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना प्रत्येक कवि का दायित्व है। वे कविता के माध्यम से मनुष्य एवं मनुष्यता को बचाने का उपक्रम करते हैं : .....कविता मारती नहीं, / जानें बचाने की कोशिश में/ पहल करती है।[4]

धूमिल अपनी कविता के माध्यम से अपने समय के अंतर्विरोधों को सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया हैं। उन्होंने राजनीति से सीधा-सीधा साक्षात्कार किया और अपने समय के राजनीतिक उतार-चढ़ाव एवं उससे उत्पन्न सामाजिक अस्थिरता तथा आर्थिक डांवाडोल को उसकेवास्तविक रूप में उपस्थित किया हैं : एक आदमी / रोटी बेलता है/ एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है/ वह सिर्फ रोटी से खेलता है /मैं पूछता हूँ -/ 'यह तीसरा आदमी कौन है ?'/ मेरे देश की संसद मौन है।[5]

धूमिल की कविताएँ समकालीन परिवेश का एक ऐसा 'एक्सरे' है जिसके अंतर्गत देश की टूटी हुई हड्डियों की छवि को स्पष्टतः देखा जा सकता है। अर्थात् उनकी कविताओं में भारतीय समाज की गतिहीनता, जर्जरता, विकृतियों, विसंगतियों आदि का यथार्थ चित्रण हुआ हैं। धूमिल की कविताओं में हर किसी के वास्तविक चेहरे को स्पष्ट कर देने की क्षमता है उनकी कविताएं राजनीतिक धरातल पर भ्रष्ट नेताओं एवं उनकी भ्रष्ट नीतियों से परिचित कराने के साथ हमारे सम्मुख भारतीय प्रजातंत्र एवं जन-नेता की वास्तविकता को उपस्थित करती हैं। अस्तु, उनकी कविताएँ भारतीय प्रजातंत्र का वास्तविक चेहरा हैं। इस संदर्भ में 'शहर में सूर्यास्त' कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिसमें कवि नेताओं को 'भेड़ियाँ' कहकर संबोधित करता है तथा 'जनतंत्र' के खोखलेपन की तरफ उंगली उठाता है : हवा में एक चमकदार गोल शब्द / फेंक दिया है – 'जनतंत्र' जिसकी रोज़ सैकड़ों बार हत्या होती है/ और हर बार/ और हर बार[6]

धूमिल की कविता का काव्य-नायक वह सर्वहारा, शोषित, बौखलाया हुआ आदमी है। जो व्यवस्था में परिवर्तन तो लाना चाहता है परन्तु ऐसा करने में खुद को असमर्थ पाता है।

आम आदमी सब कुछ समझते हुए भी साहस के अभाव में खुद के खिलाफ चलने वाले षड्यंत्र का विरोध नहीं कर पाता। धूमिल आम आदमी की इस कमजोरी से परिचित हैं, तभी तो लिखते हैं : जब मैं अपने ही जैसे किसी आदमी से बात करता हूँ/ साक्षर है पर समझदार नहीं है समझ है लेकिन/साक्षर है पर समझदार नहीं है समझ है लेकिन साक्षर है पर समझदार नहीं है समझ है लेकिन/साक्षर है पर समझदार नहीं है समझ है लेकिन/साजिश का विरोध खुलकर नहीं कर पाता/और इस कमजोरी को मैं जानता हूँ [7]

धूमिल को यह बात खलती है कि आम आदमी कायरता भरी जिंदगी व्यतीत कर रहा है। कायरता के वशीभूत होकर वह सब कुछ सहन कर रहा है जिससे भ्रष्ट लोगों की हिम्मत बढ़ गई है विभिन्न विषम परिस्थितियों और उसके कारणों को आदमी नजरअंदाज कर देता है जो कहीं-न-कहीं उसकी सहमति बन जाती है। इस दृष्टि से समाज में व्याप्त विषमताओं का विरोध न करके उसकी क्रियाशीलता में आम आदमी भी शरीक हो जाता है। धूमिल यह स्वीकारते हैं कि आदमी अन्याय को महसूस तो करता है पर उसका विरोध नहीं करता क्योंकि उसने इस बात को मान लिया है कि अन्याय के खिलाफ जाने का अर्थ हारना है - किसी ने नहीं कहा / हर आदमी भीतर की बत्तियां बुझाकर/ हर आदमी भीतर की बत्तियां बुझाकर/ पड़े-पड़े सोता है/ पड़े-पड़े सोता है / क्योंकि वह समझता है/ कि दिन की शुरुआत का ढंग/ सिर्फ हारने के लिए होता है। [8]

धूमिल की कविताओं में स्त्री की उपस्थिति को भी देखा जा सकता है वे नारी के माध्यम से एक तरफ देश की विषमताओं को उपस्थित करते हैं तो दूसरी तरफ वर्तमान समाज में नारी के प्रति चलने वाली कुत्सित मानसिकता को भी उजागर करते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में औरत के प्रसंग में अश्लील शब्दों का प्रयोग अवश्य किया हैं किन्तु उनका उद्देश्य औरत का असम्मान करना नहीं बल्कि यथार्थ को अधिक-से-अधिक तीखेपन के साथ प्रस्तुत करना हैं। उन्होंने अकवियों की तरह अपनी कविता को देह-गाथा की तरफ उन्मुख नहीं किया बल्कि नारी चित्रण के माध्यम से कभी आजादी की व्यर्थता, कभी खतरे में पड़ी मातृभाषा के अस्तित्व तो कभी शहर की नागरिकता के पीछे छिपी अपराधवृत्ति को प्रस्तुत किया हैं। उनकी कविताओं में औरत उपमा के रूप में भी उपस्थित है और वहशीपन के शिकार के रूप में भी यदि वे नारी-विरोधी होते या नारी को मात्र 'देह' समझकर उसका चित्रण करते तो वे 'आतिश के अनार- सी वह लड़की' जैसी कविता की रचना नहीं करते जिसमें उन्होंने कुमारी रोशनआरा बेगम की साहसिकता का वर्णन किया है : लेकिन मैं सिर्फ यह कहना चाहूँगा - वह एक भोली जरुरत थी औसतन गलत जिंदगी और सही मौत केचुनने का सवाल था/ इसे अगर कविता की भाषा में कहूँ - 'यह जंगल के खिलाफ / जनतंत्र का मलाल था।' [9]

समकालीन में हमारे समय और समाज की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। समकालीन कवियों ने अपने कवि-कर्म को ईमानदारी के साथ आगे बढ़ाया एवं अपने विचारों को खुलकर सामने रखा। स्वयं धूमिल ने सन् साठ के बाद के कवियों के बारे में अपना मंतव्य दिया है। उन्होंने

मात्र चार पंक्तियों में अपनी पूर्ववर्ती कविता एवं समकालीन कविता का मूल्यांकन कर अपनी गहरी समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय दिया है : छायावाद के कवि शब्दों को तोल कर रखते थे,/ प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोल कर रखते थे,/नई कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे,/ सन साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं।[10]

धूमिल ने अपनी आक्रामक और विस्फोटक भाषा के माध्यम से वर्तमान भारतीय समाज में व्याप्त कुरूपताओं और विद्रूपताओं की बेलाग अभिव्यक्ति की हैं। उनकी भाषा भ्रष्ट व्यवस्था के विरोध में खड़ी सजग भाषा है जो श्लीलता-अश्लीलता से परहेज नहीं करती बल्कि वास्तविकता को प्रबल स्वर में उपस्थित करती है। धूमिल विपक्ष के कवि हैं इसलिए उनकी भाषा ललकार और चुनौती से परिपूर्ण हैं।

समकालीन हिंदी कविता में व्यवस्था का न केवल खुलकर विरोध किया गया है बल्कि षड्यंत्रकारी नेताओं के चेहरों को बेनकाब कर उनकी असलियत का खुलासा भी किया गया है। समकालीन कविता मानव जीवन की पक्षधर है। समकालीन कवियों में धूमिल का स्वर अति विशिष्ट है। धूमिल जैसा आक्रोश किसी अन्य समकालीन कवि में नहीं है और इसी दृष्टि से वे अपने समय के कवियों से भिन्न हैं। धूमिल की पंक्तियाँ इतनी धारदार हैं कि वह आज के पाठक की आत्मा और संवेदना तक को झकझोरने की क्षमता रखती हैं। उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता यही है कि उन्हें जब भी कुछ सही लगा, उसका उन्होंने समर्थन किया और जब भी कुछ गलत लगा उसका उन्होंने विरोध किया, भले ही पहले उसका समर्थन ही क्यों न किया हो। उन्होंने कभी भी स्वयं को किसी 'वाद' या 'आन्दोलन' से नहीं जोड़ा वे उन्मुक्त विचारों वाले प्रगतिशील कवि थे। वास्तव में उनकी कविता विरोध की कविता है एवं वे विरोध के द्वारा समाज में परिवर्तन लाने का उपक्रम करते हैं। धूमिल की कविता समसामयिकता और प्रासंगिकता को वहन करने वाली सार्थक कविता है। वे जिस राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं का चित्रण अपनी कविताओं के माध्यम से करते हैं, उसका स्वरुप आज भी विद्यमान है। उनकी कविताओं में आज के मुहावरे या आज के जीवन को देखा जा सकता है। वास्तव में धूमिल प्रासंगिक कवि हैं सन् साठ के बाद सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक धरातल पर उत्पन्न विभिन्न विषमताएँ एवं विकृतियाँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। आज के परिदृश्य में भी धूमिल की कविताएँ उतनी ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है जितनी कि उनके समय थी समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में धूमिल का सम्पूर्ण काव्य संसार एक ऐतिहासिक दस्तावेज होने के साथ एक क्रांतिकारी दस्तक भी है।

संदर्भ सूची

1. समकालीन हिंदी कविता, राजेश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1992, पृष्ठ 19,
2. भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका, कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 36

3. संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009 (सातवीं आवृत्ति), पृष्ठ 85
4. खून के बारे में कविता, कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 90
5. रोटी और संसद, कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 66
6. शहर में सूर्यास्त, संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009 (सातवीं आवृत्ति), पृष्ठ 44
7. कविता के द्वारा हस्तक्षेप, कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 96
8. हत्यारी संभावनाओं के नीचे, संसद से सड़क तक, पृष्ठ 79-80
9. कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 57
10. भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका, कल सुनना मुझे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 36

बहुधर्मी कवि केदारनाथ सिंह

—*अभिजीत सिंह*

1960 के आस-पास जब नई कविता का काव्य-मुहावरा घिसकर आकर्षणविहीन होने लगा तब स्वयं नई कविता के कवियों में जीवन के यथार्थ जगत को अभिव्यक्त करने की बेचैनी और तिलमिलाहट पैदा हुई। इसी बेचैनी से उत्पन्न नई चिंताओं, तनावों, संघर्षों और चुनौतियों के कारण सर्जनात्मकता में आक्रोश, विद्रोह, विक्षोभ और असंतोष के तीखे स्वर उभर पड़े। रचनाशीलता की नई कविता से अलग पहचान बनी। अपने आस-पास के परिवेश को पूरे चौकन्नेपन के साथ रचने पकड़ने वाली इस कविता को 'समकालीन कविता' कहा गया। यहाँ महामानव और लघुमानव की बहस समाप्त हो गई और सामान्य मानव या मामूली आदमी कविता के केन्द्र में आ गया।

यह एक विशाल सृजन परिदृश्य है जिसमें अनेक धाराओं का वैचारिक कोलाहल सुनाई पड़ता है। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी, विनोद कुमार शुक्ल, उदय प्रकाश आदि ने नवीन काव्य दिशा की खोज आरंभ की। इन्हीं कवियों में एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में हम केदारनाथ जी का भी नाम लेते हैं। दरअसल जिसे समकालीन कविता कहते हैं - उसका ककहरा केदारनाथ सिंह की कविताओं से गुजरे बिना नहीं सिखा जा सकता।

दरअसल कविता की सबसे बुनियादी जरूरत होती है उसका प्राणवान होना। कठोर या कोमल वह इसके बाद ही हो सकती है। जब रस को ब्रह्मानन्द सहोदर (रसो वै सः) कहा गया था तो इसके पीछे काव्य के इसी प्राणतत्व के प्रतिपादन की मंशा थी जिसे हम ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व आदि कहते हैं। कुछ सूत्रों को जोड़ा जाए तो बात और साफ होगी। दिनकर के 'रश्मिरथी' में कृष्ण भी जब कहते हैं कि - 'पड़ जाति मेरी दृष्टि जिधर / हंसने लगती है सृष्टि उधर।' - तो वे अपने ईश्वरत्व के इसी प्राणवान तत्व की व्याख्या कर रहे होते हैं। केदारनाथ सिंह की कविताएँ भी इस प्राणवान तत्व से अछूती नहीं हैं, क्योंकि केदारनाथ सिंह के अंदर का कवि निरंतर विचलित है...बेचैन है अपने आस-पास को लेकर - उसे पहचानने के लिए। कवि की त्रासदी देखिए कि वह अपने आस-पास को पहचानना भी चाहता है और उसे पहचान कर और

कठिनाई में पड़ जाता है - 'मेरी कठिनाई यह है / कि मैं चीजों को जानता हूँ।'

हम जानते हैं कि जो अनभिज्ञ होता है- जीवन उसके लिए कितना सहज और चिन्तामुक्त होता है। लेकिन केदारनाथ जी जैसे कालजयी कवि का ऐसा सौभाग्य नहीं। उनका 'चीजों का जानना' कहीं न कहीं उनके कंधों पर विविध दायित्वों के निर्वहन का बोझ बढ़ाता है। उनकी जिम्मेदारियाँ इस मायने में बढ़ जाती हैं क्योंकि वे जानते हैं- सूर्य की तपिश को, बारिश के गीलेपन को, ठंड की सिमसिमाहट को, भूसे को, ईश्वर को, औरत को और अपने अंदर कहीं गहरे बैठे और दोटूक जीवन को जोड़ते माँझी केपुल को।

दरअसल छठे दशक के उत्तरार्द्ध में हिन्दी प्रदेश के जिन कवियों ने शहरी मध्यवर्ग की चेतना का अतिक्रमण करते हुए ठेठ ग्रामीण जीवन-बोध और लोकधुन पर आधारित कतिपय श्रुतिमधुर गीत लिखे तथा कविताओं में विशुद्ध लौकिकता के स्तर पर आस-पास की जिन्दगी और प्रकृति केआकर्षक-अछूते बिम्ब रचे, उनमें केदारनाथ सिंह सर्वाधिक उल्लेखनीय ठहरते हैं। केदारनाथ जी अपनी पीढ़ी के अत्यंत समर्थ कवि इसीलिए हैं कि उनमें कवि की संवेदनशीलता और कलाकार का संतुलित काव्यानुशासन मौजूद है। सामान्य से लगने वाले दृश्य चित्रों के संदर्भ में उनका निरीक्षण जितना बारीक है उतना ही अर्थगर्भित भी । संभवतः यही कारण है कि एकांत श्रीवास्तव का यह मूल्यांकन इस संदर्भ में बिलकुल सटीक जान पड़ता है- केदारनाथ सिंह प्रकाश के कवि हैं, धूप और रोशनी के कवि। वे अपनी कविता के शुक्ल पक्ष से समाज के कृष्ण पक्ष को उद्‌घाटित करते हैं। वे प्यार पर कविता लिखते हैं और नफरत का पर्दाफाश करते हैं। उनकी कविता की हरियाली दरअसल सामाजिक उजाड़ और पतझड़ का प्रतिरोध है।[1] बेशक कवि की 'हाथ' कविता देखकर समझ आता है कि कवि कैसे दुनिया के ठंडे और बद्‌सूरत होने की ओर संकेत कर देता है- 'उसका हाथ / अपने हाथ में लेते हुए मैने सोचा / दुनिया को / हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए ।'

केदारनाथ सिंह की कविताई को समझने के लिए उनकी विकासशील रचनायात्रा को भी गहराई से समझने की जरूरत होगी। यह सर्वविदित है कि केदारनाथ जी ने गीत रचना से काव्य जीवन की शुरुआत की थी। इनके गीतों में प्रकृति चित्रण और ऋतु वर्णन का निराला ढंग है। भाषा में लोकजीवन की भीनी गन्ध उनके गीतों की विशेषता है, जिसका संबंध भोजपुर अंचल से है। उनकी 'दुपहरिया' देखिए - 'झड़ने लगे नीम केपत्ते बढ़ने लगी उदासी मन की / उड़ने लगी बुझे खेतों में झुर-झुर सरसों की रंगीनी / धूसर धूप हुई मन पर ज्यों सुधियों की चादर अनवीनी।'

अपने ग्राम प्रांतर की प्रकृति का केदारनाथ जी पर गहरा प्रभाव दिखता है। 'तीसरा सप्तक' में संकलित अपनी कविताओं के वक्तव्य में वे स्वीकार करते हैं कि - प्रकृति बहुत शुरू से मेरे भावों का आलम्बन रही है। मेरा घर गंगा और घाघरा के बीच में है। घर के ठीक सामने एक छोटा सा नाला है जो दोनों को मिलाता है। मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बरावर टकराती रहती हैं।[2] यानी कवि की कविताई में समझें तो - 'झीलों के पानी खजूर

हिलेंगे / खेतों केपानी बबूल / पछुवा के हाथों में शाखें हिलेंगी / पुरवा के हाथों में फूल।'

वरिष्ठ आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय आज की कविता पर चिंता जाहिर करते हुए कहते हैं - आज की कविता के सामने एक बड़ा संकट संस्कृति के उद्योग का विस्तार है।[3] इस चिंता के मद्देनजर कहना न होगा कि केदारनाथ जी की कविता एक मायने में संस्कृति के इसी औद्योगीकरण का प्रतिरोध है और इस प्रतिरोध के लिए केदारनाथ जी के पास जो समर्थ उपकरण है- वो है उनका गहरा लोक-रुझान। इसी तथ्य को भांपते हुए युवा आलोचक प्रो. अरुण होता अपने आलेख 'केदारनाथ सिंह की कविताओं से गुज़र कर' में यह मार्क करना नहीं भूलते कि- "केदार जी की कविताओं की जीवन शक्ति लोक जीवन का सौंदर्य और संघर्ष है।"[4] केदारनाथ सिंह पूर्वांचल के बलिया से आते हैं और अरुण होता उनके इस लगाव को बड़ा सटीक पकड़ते हैं - भोजपुरी की मिठास कवि के व्यक्तित्व में है और उनकी कविताओं में भी। ... अपनी भाषा बोली बानी और अपने लोक से अभिन्न जुड़ाव और लगाव रहा है कवि का।[5]

एक तरफ समय का अमानुषिक संश्लिष्ट चेहरा, दूसरी तरफ नया कुछ कर दिखाने की तीव्र ललक। एक तरफ सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य, पूरी तरह से समझ न सकने की उम्र, दूसरी तरफ अपनी पहचान प्रमाणित कर जाने की महत्वाकांक्षा। केदारनाथ जी की काव्य-भूमि तो वही है- यानी प्रेम और प्रकृति। लेकिन कवि ने इस जमीन को एक नई और निजी आभा प्रदान की है। इनकी कविताई प्रेम और प्रकृति के उन अछूते रूपों को स्पर्श करती है जिन पर अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया। दरअसल केदारनाथ जी की कविताएँ मसीहाई या क्रांतिकारी मुद्राएँ नहीं अपनाती, वे बहुत छोटे-छोटे हर्ष-विषाद और जद्दोज़हद की कविताएँ हैं।[6] निस्संदेह जिसे हम चलती-फिरती वाक शैली में 'छोटा' कह देते हैं उसका निहितार्थ अमूमन व्यापक और गहरा हुआ करता है। जिस तरह किसी 'बीज' की प्रकृति को समझे बिना उसे कहीं भी, किसी भी जलवायु में बोना और उससे समुचित फलाफल की अपेक्षा करना व्यर्थ है उसी प्रकार जीवन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं और छोटे-छोटे सामूहिक व व्यक्तिगत संवेदनात्मक प्रवाहों की प्रकृति को समझे बिना जीवन में किसी विशिष्ट फलाफल की अपेक्षा व्यर्थ ही होती है। यही कारण है कि केदारनाथ सिंह की कविताओं में आदमी बिना किसी ज्ञानपरक मुल्लमें के अपने समूचे ख़ालिसपने के साथ दिखता है। कई बार तो वह इतना खालिस हो जाता है कि कवि के शब्द उसकी संघर्षशील स्थिति और सरलता का मूल्यांकन कुछ यूँ कर बैठते हैं - 'वह एक ऐसा जानवर है जो दिनभर / भूसे केबारे में सोचता है / रात भर / ईश्वर के बारे में।'(बैल)

नन्द किशोर नवल ने केदारनाथ सिंह को 'कोमल मानवीय संवेदनाओं का कवि' माना है और कहना न होगा कि केदारनाथ जी की कविताओं की जमीन तो वही है यानी - प्रेम और प्रकृति। साथ ही यह बात भी मार्क की है कि कवि ने प्रेम और प्रकृति के उन अछूते रूपों को भी स्पर्श किया है जिन पर अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया है। इसमें दो राय नहीं कि केदारनाथ जी की कविताएँ निराला की तरह ही जीवन की विविधरंगी झांकियाँ दिखाती हैं। एक तरफ

उनकी विस्तृत अनुभूति क्षेत्र है तो दूसरी तरफ संवेदना की तीव्रता और खुलापन का संकेत भी। केदारनाथ सिंह की कविताएँ मानवीय संबंधों में गहरी रुचि लेती जान पड़ती हैं। साथ ही परिवर्तनकामी प्रगतिशील शक्तियों का समाज और जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है इसकी भी पड़ताल उनकी कविताएँ करती हैं। ऊपर हम जिस सूक्ष्म जीवन प्रवाह की बात कर आएँ हैं - तो उसे ठीक से समझने के लिए 'माँझी का पुल' एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है - जिस पर चर्चा किए बिना समाज-जीवन-और इन दोनों से खेलती परिवर्तनकामी शक्तियों के सरोकारों को समझना कठिन हो जाता है। 'माँझी का पुल' कविता को चाहे-अनचाहे हम कई नजरियों से देख सकते हैं। क्योंकि इस कविता के कथ्य भले ही भौतिक या लौकिक स्तर पर माँझी के पुल, माँझी गाँव, वहाँ के किसान, बूढ़े चौकीदार, भेड़ें और यहाँ तक कि नदी की मछलियों तक का चित्रण करते हों लेकिन इस कविता का विस्तार कहीं न कहीं लोक के अंतस और युग परिवर्तन से है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो पता चलता है कि यह कविता आधुनिक युग की खण्डित और विकृत होती मानसिकता (आधुनिक संवेदनहीन परिस्थितियों के कारण अस्तित्वहीन होते व्यक्तित्व या मानसिकता) केबीच माँझी के पुल की लम्बी उम्र के माध्यम से यह आश्वासन है कि आज भी मनुष्य चाहे तो अपनी मानसिकता अपने अंतस के खण्डन और विकृति की प्रक्रिया को रोक कर अपने अंतस को एक सकारात्मक शाश्वतता की ओर ले जा सकता है। इस कविता का एक पहलू यह भी है कि अपनी लम्बी उम्र के साथ अपनी अनभिज्ञ समय-सीमा को धारण किए खड़ा ये माँझी का पुल कहीं न कहीं आधुनिकता बोध का भी परिचायक है। इस कविता में कवि की जिज्ञासा यह प्रश्न उठाती है- 'कहाँ है माँझी?/ कहाँ है उसकी नाव?' इस प्रश्न केमाध्यम से कवि बीते समय के उस माँझी और उसकी नाव को ढूँढ़ता है जो कभी इस नदी में लोगों को आर-पार पहुँचाया करते थे, किन्तु आधुनिकता की होड़ में आवश्यकताओं की पूर्ति के मूलभूत साधन गुम हो गए और गुम हो गई उनकी महत्ता। अंत में कवि एक आशंका व्यक्त करता है कि- 'उन्हें कैसा लगेगा अगर एक दिन अचानक पता चले / वहाँ नहीं है माँझी का पुल।' प्रकृति में कुछ भी शाश्वत नहीं है और संकेत भी संभवतः उसी ओर है लेकिन एक 'लम्वी उम्र' और कुछ बनाए या न बनाए एक छवि जरूर बना जाती है- जो लोक के अंदर किसी गहरे वैठे केनवास पर अंकित हो जाती है और टंगी रहती है बरसों। कवि के शब्दों में हम इसे महसूस कर सकते हैं- 'कौन बड़ा है / वह जो नदी पर खड़ा है माँझी का पुल / या वह जो टंगा है लोगों के अंदर?' यानी कविता का अंत माँझी के पुल के प्रति वहाँ के लोक-हृदय में उत्पन्न उस आत्मीयता से होता है जो उसके नहीं रहने पर भी उनके हृदय में अपना अस्तित्व वनाए रखेगा, टंगा रहेगा और उनके हृदय में ही उसे देखते रहेंगे वे किसान, बूढे चौकीदार, लालमोहर और मछलियाँ, सूंस और न जाने क्या क्या?

केदारनाथ सिंह की कविताएँ आज की वास्तविकता, व्यवस्था की क्रूरता, समझौता, चुप्पी, मामूली आदमी की पीड़ा और उसके संघर्ष का चित्रण बहुत सांकेतिक रूप में करती हैं। यह जमीन न केवल केदारनाथ जी की पहले की कविताओं से भिन्न है बल्कि आज की कविता

के मुहावरे से भी। आज की कविता में जो आक्रोश, विद्रोह और आक्रामकता की मुद्रा हमें दिखती हैं वह केदारनाथ सिंह की कविताओं में लगभग नदारद है। केदारनाथ जी की कविताओं में एक गहरा काव्यानुशासन है तथा संयत की मुद्रा भी है। मितकथन है, केदारनाथ जी की ताकत गोली-बंदूक की नहीं, शब्द की ताकत है। वे शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होने वाले धमाके को सुनना चाहते हैं। उनकी कविताओं में राजनीतिक चिंता दिखती है न कि पार्टी की चिंता। उनके भीतर अपनी काव्य-शक्ति को लेकर कोई भ्रम नहीं। वे जानते हैं कि आज के सामाजिक-राजनीतिक मुहावरों के बीच असल में उंगली किस बिन्दु पर उठनी चाहिए- आप विश्वास करें / मैं कविता नहीं कर रहा / सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ।'

कहना न होगा कि 'आग की तरफ इस इशारे' की प्रक्रिया एक बड़ा काल-खण्ड समेटे हुए है जिसे कवि की कविताई से परे उसकी दूरदर्शिता के संदर्भ में समझना होगा और इसे समझने के लिए 'एक पारिवारिक प्रश्न' के बिम्ब को पकड़ना होगा कि 'परिवार' जैसे छोटी इकाई के निहितार्थ बदलते संदर्भों के साथ कैसे परिवार की 'राष्ट्रीय' अवधारणा से जुड़ जाते हैं और जब राष्ट्र परिवार हो जाता है तो उसके प्रश्न भी उसी अनुपात में विस्तार पाते हैं। 'एक पारिवारिक प्रश्न' कविता 1957 में आती है। कहना न होगा कि नेहरू ने आजादी के बाद 'मिट्टी' की अपेक्षा 'सीमेंट' को प्राथमिकता दी। वे गुलाब कोट में लगाने के शौकीन थे। लेकिन उनकी दृष्टि में उस गुलाब को उगाने वाली मिट्टी की क्या अहमियत थी यह किसी से छुपी नहीं। एक बार पूरी पंक्ति देखें - 'छोटे से आंगन में / माँ ने लगाए हैं / तुलसी के बिरवे दो / पिता ने उगाया है / बरगद छतनार / मैं अपना नन्हा गुलाब / कहाँ रोप दूँ / मुट्ठी में प्रश्न लिए / दौड़ रहा हूँ वन-वन / पर्वत-पर्वत / रेती-रेती / बेकार।'

दरअसल एक युवा कवि की गुलाब को 'रोपने' की चिंता और इस प्रश्न को 'बेकार' में लेकर दौड़ने का एहसास-सच में गम्भीर चिंताएँ पैदा करता है- तात्कालिकता की दृष्टि से ही नहीं, प्रासंगिकता की दृष्टि से भी। क्योंकि ये कवि तो आजाद भारत के प्रथम दशक का चिंतनशील कवि था जो यह जानता था कि माँ ने तुलसी और पिता ने बरगद लगा कर अपना काम पूरा किया- उसकी पीढ़ी को सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं उपयोगिता की दृष्टि से भी एक समर्थ विरासत प्रदान की। लेकिन वह चिंतित है इस गुलाब को रोपने के प्रश्न के साथ। फिर लगभग 60 वर्षों बाद के युवा की चेतना का क्या हश्र होगा जिसे इस तरह के चिंतन का प्रशिक्षण ही नहीं मिला, उसकी संवेदना को बहुत हद तक जड़ कर दिया गया हो- ऐसे में उस गुलाब को रोपने के प्रश्न की गम्भीरता क्या और नहीं बढ़ जाती है? जब 1957 में इस प्रश्न को लेकर दौड़ना कवि को 'बेकार' लगता था तो आज की स्थिति कितनी भयावह होगी - ये बताने की जरूरत नहीं। शायद केदारनाथ जी की कविता की इसी खासियत के मद्देनजर परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि- केदरनाथ सिंह कविता में अर्थ के या अर्थ केऔसतपन के विरुद्ध कवि हैं।[7]

केदारनाथ सिंह ने हिन्दी कविता में अपनी विशिष्ट पहचान बना कर कविता को समृद्ध

किया है। उनमें नागार्जुन की सहजता और मुक्तिबोध की जटिलता का समाहार दिखाई पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के गहराते जटिल होते और पकते हुए सामाजिक यथार्थ की प्रक्रिया की सूक्ष्म पकड़ ने शोर-शरावे से मुक्त कवि की भाषा को यह विशेषता दी है। केदारनाथ जी की कविताई हिन्दी काव्य-जगत की परिपक्वता का समर्थ प्रमाण है। हिन्दी में बहुत कम कवि ऐसे हैं जो मितकथन की कला में सिद्धहस्त हैं और केदारनाथ जी मितकथन के मामले में असाधारण हैं इसका प्रमाण इन पंक्तियों में देखिए - 'यह क्या होता है आदमी के भीतर / कि उसकी चमड़ी केझूलते चले जाने केसाथ साथ / शब्दों में बढ़ने लगती है अर्थ की चमक / और होठों की पपड़ियों से / छनकर आता है जाने वह क्या कुछ / एक शिशु केपहले स्तनपान की महक जैसा।' (तॉल्सताय और साइकिल)

कहना न होगा कि वह जो 'शिशु के पहले स्तनपान' जैसी पवित्रता लिए 'अर्थों की चमक' बढ़ाता है उसे ही जीवन में हम अनुभव के नाम से जानते हैं और कविताई में केदारनाथ सिंह के नाम से।

संदर्भ -सूची

1. श्रीवास्तव, एकांत, स्मृतियाँ इसी तरह से बदला लेती हैं (लेख), वागर्थ, अक्टूबर-2008, पृ.-9
2. सिंह, केदारनाथ, वक्तव्य, तीसरा सप्तक, सं.-अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, 2003, पृ.-122
3. पाण्डेय, मैनेजर, संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2009, पृ.-155
4. होता, अरुण, केदारनाथ सिंह की कविताओं से गुजर कर(लेख) स्रोत : www.hindisamay.com
5. वही.
6. खरे, विष्णु, फर्क पड़ता है (लेख), कविता का जनपद, सं.-अशोक वाजपेयी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1992, पृ.-169
7. श्रीवास्तव, परमानन्द, कविता का उत्तर जीवन, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ.-36

पंकज सिंह की कविता : सोच के नये आयाम

—मकेश्वर रजक

समकालीन कविता के दौर में जिन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें कवि पंकज सिंह भी एक हैं। यद्यपि उनका पहला काव्य-संग्रह - 'आहटें आसपास' सन् 1981 ई. में प्रकाशित हुआ था, परन्तु उनका रचनात्मक लेखन सन् 1966 ई. से ही शुरू हो जाता है। कवि पंकज सिंह वामपंथी विचारधारा के व्यक्ति थे और यह सब कुछ उन्हें विरासत में मिला था। उनके पिताजी एक कामरेड थे। अतः कवि पंकज सिंह में क्रान्तिकारी के गुणों का होना स्वाभाविक था। वे इतने साहसी और निर्भीक थे कि उनके मित्र श्री अरविन्द त्रिपाठी उन्हें 'पूरब का साढ़' कहा करते थे। प्रख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह कवि पंकज सिंह के बहुत बड़े प्रशंसक हैं। समान विचारधारा के होने के नाते दोनों में विचारों का आदान-प्रदान खूब होता था। डॉ. नामवर सिंह का ऐसा स्वभाव ही है कि वे ऐसे साहित्यकारों को उचित परामर्श देने में कभी भी पीछे नहीं हटते हैं।

कवि पंकज सिंह के कुल तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। प्रथम काव्य-संग्रह - 'आहटें आसपास' (1981) के प्रकाशन के लगभग 20 साल बाद सन् 2001 ई. में उनका दूसरा काव्य-संग्रह - 'जैसे पवन-पानी' प्रकाशित हुआ। उनका तीसरा और अंतिम काव्य-संग्रह - 'नहीं' सन् 2009 ई. में प्रकाशित हुआ। इन सभी काव्य-संग्रहों की कविताओं में कवि की विचारधारा, उनका व्यक्तित्व, उनका चिंतन और उनकी सृजनात्मक शक्तियों में उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। साथ ही साथ इनकी कविताओं में देश की विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ भी उभर कर आई है। विशेषकर अस्सी के दशक के बाद की विभिन्न परिस्थितियाँ उनकी कविताओं में भली-भाँति मुखरित हुआ है। कहना न होगा कि कवि पंकज सिंह का काव्य-संसार देश और समाज का आईना है। उनकी कविताओं में साहस, निर्भीकता और जन-चेतना का आभास होता है। उनकी कविता के एक-एक शब्द आम जन-जीवन को समर्पित है जो सृजन के नये सोच और संभावनाओं को जन्म देता है।

यथार्थ को देखना और दिखाना या अनुभव करना और कराना- आज की जटिल समस्या

है। इसका कारण है समाज की जटिलता। यही कारण है कि समाज का यथार्थ आज हमारे सामने उस रूप में नहीं है जिस रूप में प्रेमचंद ने अपने समय में देखा था। एक साहित्यकार समाज में जो कुछ घटित होते हुए देखता है उसका वर्णन अपनी रचनाओं में ज्यों का त्यों कर देता है तो वह यथार्थ चित्रण कहलाता है, परन्तु आज हमारे समाज में कुछ ऐसी-ऐसी घटनाएँ घट रही हैं या गतिविधियाँ जारी हैं, जिसे हम देख तो सकते हैं, परन्तु वर्णन करने में असमर्थ होते हैं या वर्णन करने से हमें लज्जा और शर्म महसूस होता है। जब हमारे समाज में दो वर्ष के शिशु के साथ बलात्कार होता है या 50 वर्ष का एक राजनेता अपनी पुत्री के उम्र के बराबर एक नाबालिग के साथ घिनौना हरकतें करता है या बलात्कार करने के बाद उसकी हत्या कर देता है तो एक लेखक इसे यथार्थ की किस कलम से लिखेंगे और क्या लिखेंगे? क्या हम इसे यथार्थ कहेंगे? क्या प्रेमचंद जैसे साहित्यकार कभी सोचा होगा कि यथार्थ का एक ऐसा भी घिनौना स्वरूप समाज देखेगा। ऐसी तमाम शर्मनाक घटनाएँ समाज में घटित हो रही हैं और हम इसके विरुद्ध कुछ भी करने में असमर्थ हैं। यथार्थ का मूल्यांकन करना आज के जमाने में कठिन हो गया है। कवि पंकज सिंह यह स्वीकार करते हैं कि हमारी यथार्थवादी दृष्टि बाजारू-संस्कृति का शिकार हो गया है जिसके कारण आज हमें यथार्थ का यह घिनौना स्वरूप देखने को मिलता है। कवि अपनी कविता- 'यथार्थ के बारे में' लिखते हैं – "प्रकाश और धुँधलके के कितने पर्दों / कितने रहस्यों में लिपटा होता है यथार्थ / कई तरह से देखता होता है कुछ कहने से पहले / दिखता है, गौर से देखो, कि उसका कोई हिस्सा / धुएँ में, धूल में अँधेरे में हाहाकार में / भाषा के छल में जयकार में / बाजार की तकरार में छिपा रह जाता है।" ('नहीं', पृ.-11)

आज हमारे जीवन के मूल्य क्रमशः घटते जा रहे हैं। हमारे नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्यों में क्रमशः ह्रास हुआ है। धार्मिक कट्टरता और पाखण्ड, साम्प्रदायिकता और असहिष्णुता, हत्याएँ और यौन-शोषण, माता-पिता और वृद्धों के प्रति हमारी उदासीनता इत्यादि हमारे जीवन में कुण्डली मार कर बैठ गया है। हम अतिभौतिकवादी होते जा रहे हैं। भौतिक सुख-सुविधा और बढ़ती अहमवादी इच्छा-शक्तियों के सामने हमारे नैतिक मूल्य, और मानवीय चेतना घुटने टेक दिये हैं। जीवन को सार्थक और बहु-आयामी बनाने वाली इच्छा-शक्ति कुचली जा रही है। लेकिन कवि पंकज सिंह की हिम्मत और साहस को तो देखिए। इन गम्भीर परिस्थितियों में भी उनमें अटूट विश्वास और उत्सुकता है। जीवन को फिर से पटरी पर लाने के लिए वे गुहार लगाते हैं। वे जीवन से भुखमरी, तड़प, धुन्ध, अंधकार अत्याचार, शोषण आदि को दूर कर जीवन को जीवन के रूप में जीने के लिए जीवन की ओर लाना चाहते हैं। उनकी 'पुकार' कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है – "मैं पुकारता हूँ असंख्य सपनों को जीवन की ओर / मनुष्यों के बीच फैली दूरियों में गुम होती आवाजों को / इस विश्वास के साथ कि गहराई में बची है उष्माएँ / अभागों की उदास खामोशियों में धूसर आकृतियों में। / दुःख और मृत्यु के प्रान्तरों में भी कई तरह की हलचलें हैं / सारी प्यास और तड़प के बावजूद बची है उत्सुकता भरी खुशियाँ / धूल और यात्राओं की थकान के बाद। / पुकारता हूँ मैं जीवन को जीवन की

ओर। ('नहीं', पृ.- 14-15)

यूँ तो हम राजनेताओं, मंत्रियों, विभिन्न पार्टियों के कार्यकर्ताओं और शासन के ठेकेदारों के गुणों-अवगुणों और उनके करनी-कथनियों से अपरिचित नहीं है। वे किस प्रकार देश की भोली-भाली जनता, किसानों, मजदूरों, नर-नारियों, वृद्धों और युवाओं के सामने घड़ियाली आँसू बहाकर उन्हें मूर्ख बनाते हैं। उनकी समस्याओं के समाधान के बहाने उनके विश्वासों का हरण करते हैं। प्रगतिशील और क्रान्तिकारी विचारधारा के कवि होने के नाते पंकज सिंह ने अपनी कविताओं में शासन के ठेकेदारों, दलालों और राजनेताओं की खूब खबर लेते हैं और उनके करतूतों को जनता के सामने पर्दाफाश करते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि भोले-भाले देशवासियों को लुभाने की यह प्रथा राजनेताओं की बहुत पुरानी है और पूर्णरूप से व्यवस्थित भी। चुनाव के समय वे आते हैं, वे अपने पवित्र इरादों की कसमें खाते हैं, करुणा के दो बूँद आँसू बहाते हैं, हत्यारों, बलात्कारियों, दरिन्दों, और शोषकों को कोसते हैं और अपने वोट-बैंक को मजबूत कर नियत समय पर दिल्ली लौट जाते हैं। जनता भावुक होकर मंच पर उनका खूब स्वागत करती है - फूलों और मालाओं से। श्रद्धा और विश्वास के साथ उनको विदा करती है इस आशा और विश्वास के साथ कि जब वे दिल्ली से लौटकर आएँगे तो उनके दुःखों, कष्टों और तकलीफों को दूर करेंगे। पर दिल्ली पहुँचने के बाद नेताजी को समय कहाँ है इन भोले-भाले देशवासियों से मिलने के लिए। शासन का दबाव है उन पर ! यह है आज के नेताओं का चरित्र। पंकज सिंह की कविताओं में राजनेताओं के इस चरित्र का बखूबी पर्दाफाश हुआ है। उनकी कविता से एक-दो उदाहरण देखिए – उन्होंने पवित्र इरादों की कसमें खायीं / उन लोगों के प्रति करुणा व्यक्त की जो शिकार हुए थे / उन्होंने हत्यारों को कोसा / आमतौर के मतिभ्रम पर अफसोस जाहिर किया / आध्यात्मिक शान्ति के विक्रेताओं की तरह / उन्होंने बताया कितने मुश्किल वोझ हैं शासक समूह पर !

स्त्री और स्त्री-जीवन के संदर्भ में कवि पंकज सिंह की सोच अन्य कवियों से भिन्न रहा है। जिस स्त्री को कवि पंत ने 'माँ' के रूप में देखा, कवि प्रसाद ने उसे दया, ममता, श्रद्धा और प्रेम की मूर्ति के रूप में देखा, वही स्त्री निराला तक पहुँचते-पहुँचते एक सामान्य मजदूरनी बन जाती है और कवि पंकज सिंह तक आते-आते वह स्त्री अपने सम्मान और आबरू की रक्षा भी करने में असमर्थ दिखाई देती है। यह है स्त्री की वर्तमान दशा। आज की स्त्री भले ही ऊपर से ठीक-ठाक, सुन्दर और आकर्षक दिखाई देती हो, परन्तु उसका आन्तरिक हृदय दुःख, पीड़ा, कष्ट और भय से ग्रसित है। समाज में स्त्री का भावी स्वरूप अंधकार में है। यह अत्यन्त चिंता का विषय है। हम एक तरफ स्त्री को वराबर अधिकार देने की बात करते हैं, समाज में स्त्री-पुरुष के भेद-भाव को मिटाने की वात करते हैं तो दूसरी तरफ स्त्री का शोषण करने से भी हम नहीं चूकते। स्त्री-जीवन से सम्वन्धित एक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं – हथेलियों में थामकर कोहरे में डूबा उसका चेहरा / हथेलियों से घेरकर उसके कँपकँपाते उरोज / देह से आच्छादित कर उसकी देह की धरती / कहता है प्रेमी, देता हूँ तुम्हे निवास।

बार-बार सच के आड़े आता है / देह का, भाषा का, आशा और अभिलाषा का विन्यास / किसी तरह हटा पाओ नकली फूल, विशेषण, दाग-धब्बे / तो दिखता है पीड़ा का इलाका। उसी बीहड़ में तय होती है कल की शक्ल उसकी। ('नहीं', पृ.-46)

आज स्त्रियों की पहचान उसकी कर्मठता, उसकी बुद्धि और चेतना से नहीं होती, बल्कि उसकी पहचान उसकी देह से होती है। इसे समाज की विडम्बना ही कहा जायेगा, काम-काज और नौकरी करने वाली स्त्रियाँ आज कहीं भी अपने को सुरक्षित महसूस नहीं करती हैं। घर से लेकर दफ्तर तक असुरक्षा ही असुरक्षा। इसी भय की छाया के कारण वह सदैव भयभीत और उदास दिखाई देती है। भय की यह छाया कभी भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। सोते-जागते, चलते-फिरते - हर वक्त वह इस छाया का शिकार होती है। कवि पंकज सिंह की कविता से एक उदाहरण देखिए – कभी बारिशों के बाद जब देर रात उमस बढ़ती है / अकबका कर यक ब यक नींद खुलती है / घुटती हुई साँस को सँभालती है वह रमणिका कोई / वह नहीं जानती आत्मा की स्मृतियों का अर्थ / आर्त वह जानती है देह की विपन्नता से जगत को।

दिखाई देती है सुबह से ही उसकी थिरायी उदासियाँ / नहीं कहीं सघन होती हिंसा उसके ऊबे क्रिया-कलाप में / जो उसी को खाती है हर रोज, खाती है खाती है। ('नहीं' पृ.-47)

कवि पंकज सिंह देश की वर्तमान दशा से भी त्रस्त हैं। विशेषकर अस्सी के दशक के बाद देश की जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं वह निश्चित रूप से सोचनीय है इन परिस्थितियों ने सबसे अधिक हमारी सामाजिकता को हरण किया है।हम वैश्विक संस्कृति के चंगुल में फँस चुके हैं। वैश्विक संस्कृति भूमण्डलीकरण से उत्पन्न हुई है। यद्यपि भूमण्डलीकरण के अच्छे पक्ष भी रहे हैं, परन्तु हमारा पूँजीविस्तृत समाज अपने लाभ के लिए इसके हानिकारक पक्ष को ही अधिक स्वीकार किया है और इसका प्रयोग वे सबसे अधिक निम्न वर्ग पर ही किये हैं। फलस्वरूप भूमण्डलीकरण का हानिकारक पक्ष सबसे ज्यादा निम्न वर्ग को ही लूटा है, वहीं पूँजीवादी शक्तियाँ अधिक ताकतवर हुई हैं। समाज में अनाचार, व्यभिचार और मिथ्यावाद पैर पसार चुका है। मुट्ठी भर लोग पूरे विश्व को अपने हवस के शिकार बना चुका है। यह शर्म की बात है हम इनसे मुकाबला करने में असमर्थ है। स्वार्थ में हम इतने अंधे हो गये हैं कि उचित-अनुचित का भेद भी हम नहीं कर पा रहे हैं। कवि पंकज सिंह अपनी कविता - 'राम-राम' में दुःख प्रकट करते हैं, साथ ही साथ व्यंग्य भी करते हैं। यह कैसा समय आ गया है कि अब दलाल समाजशास्त्र को परिभाषित करता है। समाज का यह दलाल-वर्ग कभी नहीं चाहता है कि देश की उन्नति हो, प्रजा सुख और शान्ति से जीवन-यापन करे। उन्हीं के शब्दों और मानसिकताओं को कवि पंकज सिंह अपनी कविता - 'राम-राम' में लिखते हैं :-"इसी तरह आबाद रहें दुर्दशाग्रस्त घोंसले जख्मी भाषा खूनआलूदा अंधकार / गुलाम विचार दुख से भरे बाट जोहते आस में

लदा रहे अनाचार व्यभिचार लोकतंत्र के भूमण्डलीकृत स्वाँग में / मिथ्या व्यवहार का बोझ / बराबर-बराबर अत्याचार / दीर्घायु को प्रजाजन की हताशा शासकों की अभिलाषा /

मिलजुल कर ऐसे ही आशय व्यक्त किये कामना के।" ('नहीं' - पृ. 64)

"अनूठा लोकतंत्र गाता जाता है भिखमंगों का राजसी गीता।" (वही, पृ.-65)

भूमण्डलीकृत समाज में लोकतंत्र की परिभाषा बदल गई है। 'लोकतंत्र' यानी लोक (समाज) के द्वारा शासन-तन्त्र का संचालन। पर आज क्या शासन-तन्त्र लोक के द्वारा संचालित हो रहा है? लोकतन्त्र में सबको समान जीने का अधिकार होता है, परन्तु आज ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है, उल्टे उसके अधिकारों को छिना जा रहा है। मोटे लोग और अधिक मोटे हो रहे हैं और दुबले-पतले लोग और अधिक दुबले-पतले हो रहे हैं। हमारी युवा पीढ़ी इस तन्त्र के अधिक शिकार हुई हैं जैसा कि अधिकांश समकालीन कवियों ने भी स्वीकार किया है। मजदूर भूखे मर रहे हैं। किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं। उन्नत बीज और सरकारी-ऋण और सहायता के नाम पर व्यवस्था ही इनका शोषण कर रहा है। स्त्रियाँ और बच्चे भी इस तन्त्र के शिकार हैं। गरीबी दूर करने की हवाई योजनाएँ सरकार के द्वारा परोसी जा रही हैं। 'सबका साथ-सबका विकास' के नारे लगाए जा रहे हैं। गरीबों, मजदूरों और किसानों को लुभाने वाली 'फेयर एण्ड लवली' योजनाएँ भी बनाई गई हैं, दरअसल इन सारी योजनाओं का लाभ उच्च-वर्ग ही उठा रहा है। यह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का ही बदला हुआ स्वरूप है। कवि पंकज सिंह अपनी कविताओं मं लोकतन्त्र के बदलते स्वरूपों का पर्दाफाश करते हैं। वे अपनी कविता - 'वे जानते हैं' में लिखते हैं :- "मसलन तुम्हारे अलौकिक लोकतन्त्र के जवड़ों में / गायब होने के लिए सर्मपित युवा शरीर और मस्तिष्क। / तुम दिखाते हो छवियाँ और परिदृश्य / ढोल, नगाड़ों और घोषणापत्रों के साथ / उस सब में उन्हें कुछ और दिखता है।

मसलन प्रधानमंत्री गरीबी के बारे में कोई योजना परोसता है भाषा में / तो साफ दिखते हैं उन्हें / विश्व-बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के स्वामी-संकेत।" ('नहीं', पृ.-66)

किसानों, स्त्रियों और बच्चों के दयनीय दशा पर कवि लिखते हैं :- "कपास और गेहूं उपजाने वाले किसान आत्महत्या करते हैं / स्त्रियाँ और बच्चे पिसते हैं भूधराकार चक्की में।"

किनकी हित में गलती जाती है उनके भाइयों की हड्डियाँ / दरार भरे खेतों में छल से झुलसते नगरों में / किनकी खातिर अकाल-मृत्यु की नियति पाते हैं। / कोटि-कोटि अभागे।" ('नहीं'. पृ. 67)

व्यवस्था के ठेकेदार गरीबों के तड़प को इस रूप में देखते हैं :- "तुम बढ़ाते हो कभी-कभी कुछ विचित्र फूल उनकी तरफ / उनकी तड़प में शामिल होने का स्वाँग करते हो।" ('नहीं', पृ. 67)

वर्तमान शासन-व्यवस्था पर अंगुली उठाते हुए कवि पंकज सिंह कहते हैं कि आज आम जनता के अधिकार और स्वतन्त्रता पर हमला हो रहा है और पार्लियामेंट में बैठे सत्तापक्ष और प्रतिपक्ष - दोनों ही 'राक्षसी-हँसी' हँस रहे हैं। वे इसलिए हँस रहे हैं कि वे जनता को मूर्ख बनाने में सफल हुए हैं। कवि की एक कविता से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है जो उपर्युक्त वक्तव्यों को सार्थक सिद्ध करता है। देखिए :- अधिकार नष्ट किये जा रहे हैं / छीनी जा रही स्वाधीनताएँ /

संसद में सत्तावाले और प्रतिपक्ष मिलकर हँसते हैं डरावनी हँसी।" ('नहीं', पृ. 77)

दरअसल पार्लियामेंट में बैठे सत्तापक्ष और विपक्ष वाले को जनता के दुःख-सुख से कोई मतलब नहीं है। पार्लियामेंट में इन लोगों का एक ही काम है - एक-दूसरे की बातों को काटना, जरावनी हँसी हँसना और अन्त में जूता-चप्पल फेंकना। इसी तरह उन लोगों का पाँच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाती है।

ऐसे तमाम उदाहरण कवि पंकज सिंह की कविताओं में मिल जाएँगे जो देश की वर्तमान अवस्था, शासन-व्यवस्था, सामान्य जनता की दयनीय-दशा, भ्रष्टाचार, अत्याचार, शोषण, बलात्कार, नर-संहार, आत्म हत्याएँ आदि पर विचार करने के लिए हमें बाध्य कर देता है। कवि का यह नया सोच, चिंता और पहल आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। पंकज सिंह की कविता समाजवाद का आईना है। वे भारत वर्ष में समाजवाद की स्थापना देखना चाहते थे। आज पंकज सिंह हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी दृष्टि, उनका सोच और काव्य-सृजन की चिंताएँ हमारे साथ है जिसके बल पर समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। हमें उनके सोच को विस्तारित करना होगा और व्यवस्था से लड़ना होगा।

बद्रीनारायण के काव्य-जगत की समकालीनता

—बीरेन्द्र सिंह

विश्व इतिहास के दौर में 20वीं सदी केअन्तिम दो दशक काफी महत्त्वपूर्ण हैं। सम्पूर्ण मानवता के परिवर्तन की आकांक्षा का एक बहुत बड़ा स्वप्न इसी दौर में चकनाचूर होता है, साम्राज्यवादी अश्वमेध का घोड़ा पूरे विश्व में बेरोक-टोक भ्रमण की शक्ति अर्जित करता है। उदारवाद की बाढ़ में प्रतिरोध के सारे बाँध टूट जाते हैं। ऐसे में हिन्दी साहित्य भी व्यापक परिवर्तन का साक्षी बनता है। कुछ पुराने कवि अपने हथियार डाल देते हैं, तो कुछ हकीकत से मुँह मोड़कर अपने भोथरे हथियारों के गुणगान में लीन हो जाते हैं। वहीं कवियों की एक नई पीढ़ी अपना यथार्थ अपनी नज़रों से बयाँ करने को आगे आती है। बद्री नारायण इसी नई पीढ़ी के कवि हैं। वास्तव में समकालीन कविता जगत जिन कुछ कवियों के हस्तक्षेप केकारण 'समकालीनता' के वास्तविक अर्थ को व्यंजित करता है, बद्री नारायण उनमें से एक हैं।

बद्री नारायण के अबतक तीन काव्य संग्रह प्रकाशित हैं- सच सुने कई दिन हुए (1993), शब्दपदीयम् (2004) और खुदाई में हिंसा (2010)। इन संग्रहों के माध्यम से बद्री ने जो पहली बात स्थापित की है, वह यह है कि समकालीनता केवल परिस्थितियों की भयावहता रख देने भर में नहीं, उसके प्रतिरोध की सैद्धांतिकी गढ़ने का कौशल भी बतलाये तभी आम जन के कुछ काम आ सकती है। बद्री कविता की प्रतिरोधी शक्ति का महत्त्व न केवल समझते हैं बल्कि उसका सही इस्तेमाल करना भी जानते हैं।

समकालीन समय और समाज की एक बड़ी समस्या है सच से अलगाव। बद्री नारायण का काव्य जगत में प्रवेश ही इसी समस्या से लड़ते हुए होता है- "सच सुने कई दिन हो गए / सच देखे कई दिन हो गए।" (चितकबरे घोड़े के लिए कविता) इसी सच की तलाश में कवि स्वयं को 'कविता का डोम' घोषित करते हुए अपने पहले प्रकाशित काव्य संग्रह 'सच सुने कई दिन हुए' की बिल्कुल शुरुआती पंक्तियों में अपना 'निवेदन' प्रस्तुत करता है - "मुझे शब्द छूने दो / भाव छूने दो / वाक्य छूने दो / कविता के वृत्त के बाहर / बैठा हूँ / मैं 'कविता का डोम' / मुझे / पाँव छूने दो ।" (निवेदन)

अस्पृश्यता केवल सामाजिक ही नहीं होती मानसिक भी होती है और समकालीन कवियों को बौद्धिक या मानसिक अस्पृश्यता के दंश को गहरे में झेलना पड़ा है। काव्य जगत की बनी बनाई चौहद्दी लाँघने के अपराध स्वरुप पहले-पहल उन्हें कविता का अछूत करार दिया गया जिसे उन्होंने सहज स्वीकारते हुए एक नया संघर्ष छेड़ा और एक लंबी जद्दोजहद के बाद स्वयं को प्रमाणित किया। बद्री नारायण की कविता इसी संघर्ष चेतना की अभिव्यक्ति हैं। 'पहाड़ और मेरे बीच' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं - "सृष्टि की पहली सुबह से ही / पहाड़ और मेरे बीच / चल रही है जोर आजमाइश।" एक कठिन दौर में समकालीन कविता ने जीवन-'सफर' की दुरुहता को शब्दों में पकड़ने की कोशश की है। बद्री लिखते हैं - "आसमान में जितने हैं तारे / उतने ही घाव हैं मेरे शरीर पर / जितने शंख हैं, जितनी सीपियाँ / उतने ही मेरे दुःख हैं, उतनी ही कठिनाइयाँ"। (सफर) और इन्हीं दुःख और कठिनाइयों के बीच जीवटता और अदम्य जिजीविषा का संकल्प रचा है - "जितने द्वीप हैं, जितनी नदियाँ / उतने ही और करने हैं मुझे काम / जितना बड़ा युग है, जितना विस्तार / उतना ही सफर अभी और तय करना है"। (वहीं)

तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद निराशा और निरर्थकता के परे जाकर आशा के बीज बोना समकालीन कविता की बड़ी खूबी है। कवि अपने विश्वास को हर हालत में बनाए रखना चाहता है, वह अपने शब्दों से जो 'ताना-बाना' बुनता है वहाँ एक बड़ी अभिलाषा है- "न्याय का पलड़ा जो झुक रहा है टेढ़ा / उसके लिए बढ़िया बाँट बनाना / माँ और गौरैये में बस बच गये हैं हाड़ / उन पर मांस चढ़ाना / मैं जो खोता जा रहा हूँ विश्वास / मेरे लिए विश्वास बनाना।" (ताना-बाना)

एक अदद सत् की खोज बद्री की कविताओं की मूल विषय वस्तु है क्योंकि समय ने जो 'बदलाव' रचे हैं उनमें - "बर्फ पानी में बदल गया / मस्ती चिन्ता में / सुख दुख में / सोना माटी में बदल गया" (बदलाव)। और इन्हीं के साथ 'सत् असत् में'। तो ऐसे असत् समय में जब सभी अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में जी-जान से लगे हैं। येन-केन-प्रकारेण लोभ-लाभ का दौर चल रहा है। केवल उन्हीं चीजों का मोल बचा है जो स्वार्थ साधती हैं, कवि को एक बड़ी चिन्ता सालने लगती है कि ऐसे समय में कौन बचायेगा मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने वाला जीवन-रस, कौन बचायेगा प्रेम जिससे बचेगी यह सृष्टि, कौन बचायेगा 'प्रेमपत्र'- "प्रलय के दिनों में / सप्तर्षि, मछली और मनु / सब वेद बचायेंगे / कोई नहीं बचायेगा प्रेमपत्र / कोई रोम बचायेगा / कोई मदीना / कोई चाँदी बचायेगा, कोई सोना / मैं निपट अकेला / कैसे बचाऊँगा तुम्हारा प्रेमपत्र !" (प्रेमपत्र)

लगातार हिंस्र होते जा रहे समय में समकालीन कविता ने अपने तईं शांतिदूत का काम किया है। युद्ध के घटाटोप में बद्री के कवि की अभिलाषा है, 'अब मैं कबूतर पालूँगा' - "सुनो ! अब मैं कबूतर पालूँगा / बोली में मिश्री घोलनेवाले कबूतर / प्रेम की पाती ढोनेवाले कबूतर / वही कबूतर ! वही कबूतर ! जिसके पीछे / सिकन्दर रहा उम्र-भर परेशान / जो एक दिन

लेकर उड़ जायेंगे शिकारी का जाल पूरा / कई नादिरशाह, कई औरंगजेब मिलकर / जिसे मार न पाये / मैं उसी नस्ल का कबूतर पालूँगा" (अब मैं कबूतर पालूँगा)। कवि को सच की जीत का पूर्ण भरोसा है।

मौजूदा सामाजिक संरचना में स्त्री जीवन की त्रासदपूर्ण स्थिति ने कवि मन को बार-बार उद्धेलित किया है। लड़की के जीवन को 'डरते-डरते' कविता में बाँधते हुए बद्री ने लिखा, "डरते-डरते मैंने जनम लिया / मेरे जनम पर नहीं बजीं बधाइयाँ / मुझे प्यार करना / डरते-डरते मैंने पाँच पार किए / डरते-डरते दस / डरते-डरते मैं बीस के दरवाजे पर खड़ी हूँ / मुझे दगा मत देना / डरते-डरते मैं बूढ़ी हो जाऊँगी / डरते-डरते मर जाऊँगी / मुझे / डरते-डरते याद करना।" अपनी एक महत्वपूर्ण कविता 'दुलारी धिया' में 'पी के घर' जाती दुलारी धिया की नियति को कवि कुछ यों व्यक्त करता है, "सोने की थारी में जेवनार - दुलारी धिया / पोंछा बन / दिन-भर फर्श पर फिराई जाओगी / कछारी जाओगी पाट पर/ सूती साड़ी की तरह / पी से नैना ना मिला पाओगी दुलारी धिया" और स्त्री जीवन केविभिन्न पहलुओं को देखने-परखने के बाद कवि एक ही निष्कर्ष पर पहुँच पाता है - "कि पृथ्वी की / सारी नदियाँ औरतों के रोने से बनी हैं।" (ताकीद)

आमजन की जिन्दगी के तमाम कष्टों से दो-चार होते कवि के मन में सम्पूर्ण मानवता की प्रगति का स्वप्न झिलमिला रहा है। और वह जान चुका है कि यह काम अकेले उसकेवस का भी नहीं है तभी तो वह सबकी भागेदारी चाहता है। वह कुछ पंक्तियाँ लिखकर अपना दायित्व निभा रहा है और अपील कर रहा है, 'बाकी तुम्हें लिखना है'- "फूटी स्लेट पर / सत्य लिखना है / मैं खूब सुन्दर लिखता हूँ 'स' / बाकी तुम्हें लिखना है / बुरे दिन हैं / और सुन्दर लिखना है / 'स' लिख मैं चलता हूँ / बाकी तुम्हें लिखना है।" (बाकी तुम्हें लिखना है)

"शब्दपदीयम' बद्री का दूसरा काव्य संग्रह है जहाँ कवि ने शास्त्र और लोक के द्वन्द्व को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। यहाँ शास्त्र की बड़ी-बड़ी गाथाएँ लोकदृष्टि से नई व्याख्या पाती हैं। शास्त्रों ने मानवता के जिस रूदन को ढाँप रखा है बद्री उसकी सच्चाई उजागर करते हुए लिखते हैं - "हालाँकि यह मैं भली भाँति जानता हूँ / कि अब तक जो भी हुए हैं रुलाई के स्मृतिकार/ एक एक कर मिटा दिए गये हैं/ अगर कहीं बच गया है गलती से उनका कोई हर्फ़ / तो उसे दूसरा अर्थ देने के लिए / नयी पद्धतियाँ गढ़ ली गयी हैं।" (आधी रात में रुलाई का पाठ) और इतिहास के इस भयंकर तिलिस्म को तोड़ने हेतु कवि की प्रतिज्ञा का स्वर सुनिए- "पृथ्वी और आकाश में ऐसी जितनी गड़ी हैं रुलाइयाँ / मैं उन रुलाइयों का पाठ करना चाहता हूँ"। (वहीं)

बद्री के यहाँ समकालीन कविता उन 'दूसरे अर्थों' और 'नयी पद्धतियों' की गहरी पड़ताल के साथ आती है और उन छुपे रहस्यों की वास्तविकता या कि घिनौना सच बिना किसी लाग लपेट के सामने रख देती है। शास्त्रों में स्त्री के महिमामंडन की गाथाएँ बिखरी मिलेंगी परन्तु आज का यह कवि जब स्त्री पीड़ा का सच लिखता है तो उसकी कलम कितनी बेबाकी से बोल उठती है कि ए- "वह चीख रही है, चिल्ला रही है। उन चिल्लाहटों में हैं, कुछ ऐसी चिल्लाहटें

/ जो दुनिया के उपलब्ध विपुल साहित्य भण्डार में कहीं नहीं है / लिखित साहित्य में तो बिल्कुल नहीं।"(कोई ऋषि नहीं, यह कुत्ता लिख रहा है)। बद्री ने यह मानते हुए कि 'बुदबुदाहटें दुनिया भर के उत्पीड़ितों की सबसे विश्वसनीय दस्तावेज होती हैं" (वहीं), इतिहास की छुपी बुदबुदाहटों और चिल्लाहटों को समान रूप से अपना काव्य विषय बनाया है और मानव भविष्य की उन्नति का ख्वाब सहेजे प्रतिरोध की हर छोटी-बड़ी घटना को वाणी दी है। उन्होंने 'हो सकता है' की संभावना को हर पल जीवित रखा है - "हो सकता है / आपके पिछवाड़े / रची जा रही हो प्रतिरोध की कवितावली / और आपको पता तक न हो" (हो सकता है)।

दरअसल आज के दौर में शब्दों की अर्थवत्ता का सबसे ज्यादा हनन हुआ है। राजनीति तो आज शब्दों का खेल ही बन गई है। कवि आज के राजनीतिज्ञों/धरणीधरों की शब्द-संपदा पर गौर करते हुए लिखता है- "लाल किले पर जयकर / हत्या, लूट, दंगा लेकर / आगे बढ़/ हे धरणीधर / शब्दों को बाँध / और वाक्यों को आतंकित कर / अर्थों को जिधर चाहे उधर कर / नाम दे, सिद्घांत लिख / व्याख्या कर"(धरणीधर) और इस कारुणिक स्थिति में डरे-सहमे शब्दों की चिन्ता को शब्द की ही जुबाँ में व्यक्त करते हुए लिखता है - "मैं शब्द हूँ / कहीं मुझी से कोई मनुस्मृति / फिर न लिख दी जाए / कहीं मुझी से फिर न लिख दी जाएँ / इतिहास की दुर्दान्त घोषणाएँ / तानाशाहों की कहीं लिख न दी जाएँ / मुझी से आत्मकथाएँ / मैं शब्द हूँ / डरता हुआ / नगाड़ों की गड़गड़ आती आवाज के बीच / एक हिरण के मन की तरह / अनकता हुआ।"(शब्दपदीयम्)

समकालीन कविता परम्परा को आत्मसात करके तो बढ़ी है पर परम्परानुगामी कभी नहीं रही। इन कवियों ने हर तरह की सनातनता से मुक्ति चाही है - "थोड़ी देर में इस थोपी सनातनता से मुक्ति चाहता हूँ / थक गया हूँ परपंरा की अनुकृति करते करते / थोड़ी देर में मौलिक होना चाहता हूँ"(थोड़ी देर)। बद्री ने समकालीन काव्य जगत् में खुद को निपट अकेला और 'निहत्था' घोषित करते हुए लिखा- "न अज्ञेय जी से ही रहा है मेरा कोई रिश्ता / न त्रिलोचन की परम्परा में शामिल हूँ" (निहत्था)। वास्तव में अपने समय और समाज की नब्ज को ठीक ठीक पकड़ने के क्रम में समकालीन कविता ने अपने सर्वथा नवीन मुहावरे, नई भाव भंगिमा, नई काव्य भाषा और नए तेवर रचे हैं।

अपने समय की विकट वास्तविकता का एक चित्र उकेरते हुए बद्री लिखते हैं - "इन्द्र के व्यवसाय में मित्र को भारी हुई है हानि / इन्द्र को अस्त्रों के व्यवसाय में रिकार्ड मुनाफा हुआ है / कुबेर की डायरी में लिखे वृत्तान्त से पता चलता है कि / ऋण का संचालक वरुण काले धन को उजला बनाने में लिप्त है" (पूरबी बनीज का गीत)। हिंसा के इस अराजक समय ने प्रेम भाव को इतना क्षतिग्रस्त किया है कि- "भय दिखाकर जितना कमाया जा सकता/ उतना ही प्रेम दिखाकर/इसलिए प्रेम और भय अब विरोधी भाव नहीं रह गए हैं" (प्रस्ताव)। इस संवेदनहीन दौर में चारों ओर बाजार पसर गया है जहाँ पूँजीपतियों एवं मुनाफाखोर दलालों की सत्ता है, जिनकी असलियत कुछ और ही है- "जो कोई बाजार में आएगा/चार पैसे में बिकाएगा / पर

दो ही पैसे पाएगा / दो तो दलाल ले जाएगा / चाहे कोई हो / हम आप या कबीर / बौद्धिक, लेखक, फकीर / सब चार में बिकाएँगे / पर दो ही पैसा पाएँगे"(बाजार का गीत)। पर आश्चर्य तो यह कि इन सब के बावजूद "सब बाजार में बिकने चले आ रहे हैं / बाजार में बढ़ती ही जा रही है भीड़"(वहीं)।

इसी क्रम में सच की खोज में दरबदर भटकते कवि को इतिहास के घूरे मे दबे पड़े नए-नए नायकों का परिचय मिलता है। उसे समझ में आ जाता है कि आकाश का नायक सभी द्वारा पूजित केवल एक वही सूर्य नहीं हो सकता बल्कि आकाश में असंख्य नायक हैं जिनपर कभी बात नहीं हुई। वहीं सूर्य रूपी महानताओं के बरक्स संघर्षरत शुक्रतारा भी है- "यह शुक्रतारा तारा से अधिक प्रतीक है मेरे लिए / सूर्य के खिलाफ तारों के रातभर चले संघर्ष का / जिसमें कई शहीद हुए, कई हलाक, कई झेल रहे हैं निष्कासन / कई उत्प्रवास! / विजेता के सारे आतंक आतंकित हैं उसके होने से / विजेता का तेज लजाया है / आकाश पर उगा है यह उग्रतारा / मैं रोज सुबह अपने मन में / इसके उगने का इंतजार करता हूँ।" (शुक्रतारा)

अपनी इसी सदिच्छा के साथ अपने नवीनतम काव्य संग्रह 'खुदाई में हिंसा' की शुरूआती कविता की शुरूआती पंक्तियों में उन्होंने लिखा- "मैं जानता हूँ कि कलापक्ष पर बात करना परम धर्म है साहित्य का / पर मैं भूख के कलापक्ष से अभिभूत होने से बचते हुए / उसके राजनीति-पक्ष पर बातें करना चाहता हूँ।"(समर्पण) संग्रह की यह पहली ही कविता महज एक कविता न होकर एक प्रतिबद्ध कवि की प्रतिज्ञा है। तथाकथित विकास के रथ पर सवार आधुनिक समाज में भूख के राजनीति-पक्ष पर बातें करना कितना कम होता गया है। कवि इसे भलीभाँति महसूस करता है और अपने नैतिक दायित्व को याद करते हुए चाहता है– "मैं चाहता हूँ इस आख्यान में कि तिर्यक रेखाओं पर वे गिलहरियाँ हों/ जो कई बार सोये शेर की माँद से उठा लाती हैं उसका खाना" (वहीं)। कवि पूरा आख्यान उन लोगों को सर्मपित करना चाहता है- "जो इस सिद्धांत पर चले हैं / और भूख के खिलाफ लड़ते हुए मरे हैं।" (वहीं)

आजादी के बाद के एक लम्बे समयांतराल में बहुत कुछ होने की 'अपेक्षाएँ' थीं जो अब भी अपेक्षाएँ ही बनी हैं- "कई अपेक्षाएँ थीं और कई बातें होनी थीं / एक रात के गर्भ में सुबह को होना था/एक औरत की कोख से दुनिया बदलने का भविष्य लिये / एक बालक को जन्म लेना था / एक चिड़िया में जगनी थी बड़ी उड़ान की महत्वाकांक्षाएँ" (अपेक्षाएँ)। 'पर कुछ भी नहीं हुआ' और कुछ भी न हो पाने के कड़वे यथार्थ से मुठभेड़ करते कवि की विवशता 'समुद्र गाथा' सी फूट पड़ती है- "मैं राम नहीं अयोध्या का कि करूँ धनुषटंकार / और समुद्र को बोलने के लिए बाध्य कर दूँ / मैं तो जनतांत्रिक समय में जी रहा एक संवादी नागरिक हूँ"(समुद्र गाथा)।

इस जनतांत्रिक समय में जी रहे नागरिक की विवशता की छोटी-छोटी कहानियाँ बद्री की कविताओं की विषय वस्तु हैं। इस जनतंत्र में आम आदमी को बस पिसना है। अब पहले जैसी बात भी नहीं रही कि आप अपने शोषणकर्ता को जान ही लें। वर्तमान समाज की बात करते हुए

बद्री लिखते हैं- "शिकारी हो सकता है कोई भी, मोर मेरे प्राण ! / पहले के जमींदार का परनाती / कोई बड़े पूँजीशाह या उसके स्कूल का साथी / किसी बड़े पूँजीशाह का कोई भी दलाल / आधुनिक भावबोध से लैस किसी मल्टीनेशनल का कोई अधिकारी" (मोर नाच)।

आज शोषक का कोई एक चेहरा नहीं है। शोषण सर्वत्र है। ऐसे में कवि सजगता और सचेतनता की महती आवश्यकता पर बल देता है। शमशेर बहादुर सिंह ने 'बात बोलेगी' शीर्षक कविता में लिखा था- "बात बोलेगी / मैं नहीं / भेद खोलेगी / बात ही"। बद्री नारायण अपनी 'बात' कविता में और स्पष्ट करते हैं - "कई बार हुई हत्यारों की घुसपैठ / इस बात की हत्या के लिए / पर मेरे भीतर बची है यह बात / और बची रहेगी" (बात)।

समकालीन समय विस्थापन के गहरे दर्दों को समेटे हुए है। कवि की नजर इस समस्या के प्रत्येक पहलू को परखती है, विस्थापन वह चाहे मनुष्य का हो, पशु-पक्षियों का हो या फिर भावनाओं और संवेदनाओं का। कवि की चिंता है- "कितनी तेजी से / कविताओं से चिड़ियाँ गायब होती गई हैं/कि क्यों कविताओं से गायब होता गया है/ गरीब-गुरुवा आदमी" (चिड़ियों के निष्कासन के खिलाफ एक बयान)। 'दो फाँक' कविता में विस्थापन से उपजे आधे-अधूरेपन के दर्द को कवि बड़ी मार्मिकता के साथ उजागर करता है- "यह भोजपुर का क्षेत्र है श्रीमान/ बेकारी, नौकरी, प्रवास / यहाँ सब कुछ आधा है, सच में आधा / माँ का कलेजा आधा / भाई का सीना आधा / आधा कहीं छिपा पड़ा है / नोएडा, बॉम्बे, दिल्ली/ या मॉरिशश, सूरीनाम" (दो फाँक)। वर्णित भोजपुर का क्षेत्र यहाँ आँचलिकता में सार्वदेशिकता के दर्द को वाणी दे रहा है। अपनों के सुख की तलाश में अपनों से दूर जाकर कोई स्वयं में कितना सुखी हो पाएगा!

इस विस्थापन ने एक ऐसी हिंसा को जन्म दिया जिसे आप रोजी-रोटी की हिंसा कह सकते हैं। व्यक्ति पेट भरने के लिए अपने ही बन्धु-बान्धवों के हाथों खून होने पर मजबूर है। ऐसे में कवि, जहाँ कोई कुछ नहीं कर रहा, विस्थापितों के विस्थापन के प्रमुख साधन रेल से ही अपील करने लगता है कि अब वही कुछ करे - "कुछ कर, कुछ कर हे मुम्बई / जाने वाली रेलगाड़ी / ऐसे में तू ही कुछ कर / जब भाग्य, भगवान, पुलिस / सरकारें सब बैठी हैं चुपचाप!" (गठरी)। समाज में बढ़ती हुई हिंसा कवि को अन्दर तक झकझोर कर रख देती है। वह सोच नहीं पा रहा कि- "गाय के गोबर/ और गंगाजल में / कब और कैसे पैठ गया है / हत्याओं का विचार / चिंतित है मेरी माँ।" (माँ)

भारत माँ चिंतित हैं! सम्पूर्ण मानवता चिंतित है! पर किया क्या जाय? जब हिंसा फैलाने वाला इस बार कोई अतिमानव या दानव नहीं, स्वयं मानव ही है- "अवतारी की जगह एक नरसंहारी पा गया नया अवतार/ बुद्ध उदास हैं, ईशु चुप हैं / किसी पहाड़ की तलहटी में रो रहे हैं भगवान विष्णु छुप-छुप" (अवतार)। इस मानव ने समाज को ऐसी क्रूरता का पर्याय बना डाला है जहाँ जवान होती बेटी को एक माँ सुन्दर साड़ी देने से डरती है कारण "उस साड़ी में कातिल हत्यारा बसता है" (साड़ी, सपने और माँ)। जहाँ संस्कृति के नाम पर खाप पंचायती मानसिकता मृत्युदंड सुनाती है- "देखिए ना जान से भी ज्यादा मूल्यवान / यौन शुचिता / नृशंसों

के नैतिक विधान के लिए" (संस्कृति)। जहाँ आज भी जात-पात की भावना इस कदर हावी है कि एक दलित से– "ज्यादा पैसे लेकर भी / कोई उसे किराये का मकान देने को तैयार नहीं था / हालाँकि छतों पर लगे झंडों पर फहरा रहे थे / महात्मा फुले के सन्देश" (दलित बस्ती में रग्घू मेहतर)। जहाँ अछूत को सम्मान तो दूर शहीद भी नहीं कहा जा सकता- "शहीद घिरंट चमार/ जो चमार थे, इसलिए कोई उन्हें शहीद नहीं कहता।" (शहादत)

बद्री नारायण ने अपनी कविताओं में लोक को विशेष महत्त्व देते हुए उसे नवीन अर्थों से समृद्ध करने की भी कोशिश की है। वे 'अब हमें कुछ और बातें करनी चाहिए' कहकर चिल्ला उठते हैं- "अपने गाँव के आकाश की मरी चिड़िया/ पॉट पर टाँगे जब वह शहर आया / तो लोगों ने फरमाया- वाह क्या लोक है! / मारने वाले व्याध से बदले की इच्छा जब मृत / चिड़िया के शरीर में पैदा करने लगी कुछ साँसें / और अनेक कम्पन / तो वे ही लोग कहने लगे / अब बहुत हो गया लोक-लोक / अब हमें कुछ और बातें करनी चाहिए।" (नई दुनिया में लोक)।

आज के साम्राज्यवादी समय पर कवि की टिप्पणी है- "लाभ-लाभ हिंस्र लाभ / लाभ से हिंसा, हिंसा से बाजार/ शुभ-लाभ के संचयन से हो बलि/ बीच बाजार में ठोकता ताल/ अकेले दुकेले नहीं, वह 'कईयों' पर करता है राज, / भूख, गरीबी, जलालत को विश्व बाजार में बेचता/बेचता रुलाई और उदासी को कला बाजार में" (गड़ेरिया)। ऐसे बाजारवादी समय में कवि की पुकार है - "वो लोग कहाँ हैं / जो कैसे और साहित्य के पीछे पागल रहते थे / उनकी घड़ियाँ, उनके छाप, उनकी किताबें कहाँ हैं"(सूर्यपर्वत पर कमल) ।

वर्तमान समाज में सर्वत्र व्याप गई हिंसा की मनोवृत्ति कवि की चिंता और परेशानी का सबसे बड़ा सबब है। 'खुदाई में हिंसा' शीर्षक कविता में बद्री बार-बार सवाल करते हैं कि - "ऐसी हिंसा आई कहाँ से/ आँखों में, भाषा में, वाणी में/ मन में, भावों में, विचारों में / ... / हममें और आप में / जल में, वायु में, और क्षीरसागर में एवं / ताल तलैयों में / गाँव में, नगर में एवं महानगर में / कैपिटल में एवं मेट्रोपोलिज में" (खुदाई में हिंसा)। ऐसे खौफनाक माहौल में कवि का डर और गहरा जाता है - "सच होते जा रहे हैं भयानक / सपने अच्छे-अच्छे भयानक होते जा रहे हैं / मेरी आँखों की नींद यह मुझमें / क्या रच रही है / मेरी नींद की चिड़िया / इतना क्यों डर रही है" (सपने)। दरअसल इस सर्वव्यापी डर से कोई निजात नहीं जबतक कि हम समझ न लें कि- "राडार, मिसाइल, कुछ नहीं काम आएगा/ मुन्नुलाल/ इससे भी ज्यादा जरूरी है/ कि आदमी के मन में छिपे नाग को/पकड़ कर निकाला जाए।"(वहीं)

और हमें यह भी मानना होगा कि 'आदमी के मन में छिपे नाग' को एक कवि ही निकाल सकता है। बद्री नारायण ने अपने पूरे काव्य जगत् में यही काम किया है। बद्री 'कवियों की इच्छा के विरुद्ध' बन रही दुनिया को ललकारते हुए कहते हैं - अगर यह दुनिया बन नहीं रही है / कवियों की इच्छा के मुताबिक/ तो सर्वनाश होगा / पूर्ण नहीं हो पाएगा ऐसी दुनिया के बनने का काम!" (कवियों की इच्छा के विरुद्ध)। एक कवि की इच्छा समाज और दुनिया को

सही अर्थों में सुखी-सम्पन्न और समृद्ध देखने से जुड़ी होती है। समकालीन बाजारवादी, भौतिकतावादी, भोगवादी समाज में 'एक कवि की बिक्री' लगने पर भले ही उसका कोई मूल्य न आँका जाए, पर कवि की इच्छा के विपरीत जाकर आगत भविष्य कितना अन्धकारमय होगा, इसकी कल्पना असम्भव नहीं। बद्री के सम्पूर्ण काव्य जगत मे असंख्य छोटी-छोटी इच्छाएँ बिखरी पड़ी हैं। हम सबका यह दायित्त्व बनता है कि हम उन इच्छाओं पर गौर करें और समकालीन कविता के इस विचारक की चिंताओं से अवगत होते हुए मानवता के विकास का उन्नत मार्ग तलाशें।

अनामिका का काव्य : स्त्री विद्रोह का आख्यान

—प्रियंका कुमारी सिंह

समकालीन कवि समाज की अकर्मण्यता पर सवाल खड़ा करता है और अपने कर्तव्य पथ पर अडिग रहता है। समकालीन कविता में जो हो रहा है, बिकमिंग का सीधा खुलासा है इसे पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है क्योंकि इसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, तड़पते,गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।[1] वस्तुतः जीवन और समाज के बीच की वास्तविकताओं के मध्य ही कविता जन्मती है व्यवस्था की प्रताड़नाओं से तड़पती जनता में आक्रोश जगाने की कोशिश हमेशा ही समसामयिक कविता में झलकती है प्रयाग शुक्ल अपनी कविता 'अपना चेहरा' में लिखते हैं- उसके चेहरे में बसी है/ एक पीड़ा, वह हँसती है तो/ वह और उभर आती है/ कितना कम जानता हूँ/ उसे,/ नहीं, नहीं चेहरे को नहीं/ उस पीड़ा को/ जो मेरी भी है।[2]

समकालीन कविता के क्षेत्र में एकदम नये अंदाज और निजी अनुभवों व्यक्त करने की क्षमता अनामिका की अपनी है। स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण तथा पुरुषवादी समाज के वास्तविक और स्याह चेहरे को अनामिका एक व्यंग्यपरक भाषा में हमेशा व्यक्त करती चलती हैं। अक्सर लेखक की पृष्ठभूमि का, उसके परिवेश का उसकी रचनाओं पर प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अनामिका की पृष्ठभूमि की बात करें तो 'अपराधियों के शहर' नाम से मशहूर मुजफ्फरपुर में जन्मी और पली-बढ़ी अनामिका की रचनाओं में अगर स्त्री प्रतिरोध के चुभते सवाल और स्वर सुनाई पड़ते हैं तो कहने की आवश्यकता नहीं कि अमामिका की स्त्री के लिए परिस्थितियां कितनी कठिन रही होंगी !, पितृसत्ता के बीच रहते हुए सुई की नोक पर पितृसत्ता के विरुद्ध स्त्री शोषण का आख्यान प्रस्तुत करना और स्त्री मुक्ति की वकालत करना आनामिका के लिए आग का दरिया पार करने से कम नहीं रहा होगा। समीक्षक नैया के अनुसार– खुरदुरी हथेलियाँ संग्रह की कविताएँ एक स्त्री की दृष्टि से देखी गई उत्तर-आधुनिक समाज और समय की विडंबनाओं का बयान करती हैं। कवयित्री अनामिका ने स्त्री-मुक्ति के प्रश्नों, सम्बन्धों में आई रिक्तता की भूख, साधारण आदमी के दुःख-दर्द को और अपने हिस्से की

धूप तलाशती स्त्री की पीड़ा को इस कविता-संग्रह में व्यक्त किया है। इन कविताओं में एक ओर जहां वे समय की कड़वाहटों को देखती हैं, वहीं दूसरी ओर जीवन की कोमलता को भी अनदेखा नहीं करती हैं। यह कोमलता चाहे उन्हें घर में काम करने वाली महरी की खुरदुरी हथेलियों से क्यों न मिली हो।[3] उनकी 'बिखरी और पिटी हुई' नामक कविता समकालीन समय में स्त्री पर पुरुष का आधिपत्य, अत्याचार तथा निरंतर हो रहे आक्रमणों का जीवंत दस्तावेज है। अनामिका के काव्य की यह विशेषता है कि उनकी कविताओं में स्त्री की आक्रोश भरी आवाज़ एवं दावा करने की प्रवृति दिखाई पड़ती है। समीक्षक हरदयाल के अनुसार-अंतःपुरम् नामक खंड की कविताएं उस सोच की अभिव्यक्ति हैं जिसे आजकल स्त्री-विमर्श का नाम दिया जाता है।[4]

अनामिका के काव्य में स्त्री-विमर्श अपने मुखर रूप में सामने आया है प्रेम, दोस्ती,स्त्री की पीड़ा, उसकी इच्छाएं, आकांक्षाएं; आदि हमेशा से मौजूद रहती हैं। साथ ही उनकी रचनात्मकता में एक मुखर और अव्यक्त व्यंग्य हर कहीं देखने को मिलता है। 'समय के शहर में' नामक संग्रह से 'गृहिणी की डायरी' भाग में 'पुराने प्रेमी का संदेश' नामक कविता में पुराना प्रेमी अपनी प्रेमिका को उसी प्रकार शिक्षा देता है जैसाकि माएं अक्सर बेटियों को दिया करती है- तन्मयता से सेवा करना/ मुझसे जैसे लड़ लेती थी / देखो, उनसे कभी न लड़ना।[5]

रमेशचंद्र शाह कवि की भूमिका एवं दायित्व का चित्रण करते हुए कहते हैं -'कविता सोचने में नहीं, कहने में है' - उसने कहा/ 'जैसे नदी बहने में, जैसे दर्द सहने में, जैसे घर रहने में'/ 'कविता कहने में नहीं करने में है' - उसने कहा -/ 'कविता वह क्रिया है जिसमें/एक पूरा वाक्य आकर/बहने सहने रहने लगता है।'[6] स्त्री जीवन भी एक कविता ही तो है जो तमाम दुखों, कष्टों, पीड़ाओं, अपमानों के बावजूद मूक हो सब कुछ सहती और बहती रहती है

आज कविता की स्थिति यह है कि कविता, दुनिया के किसी कोने को, किसी भी चीज को छोड़ना नहीं चाहती। इस संदर्भ में अनामिका कहती हैं कि - इस उत्तर आधुनिक परिदृश्य में कविता की स्थिति डाक में खोई उस चिट्ठी की सी है जो चाहती है कहीं पहुंचना, पर पहुंच नहीं पाती। इस कठिन समय में जब समय से स्थान, देह से मन, समष्टि से व्यष्टि विच्छिन्न हो चला है (नाभिकीय नाल की) उनकी आपसी पकड़ छूट गयी है और 'आकाश से धरती की बंद है बातचीत'- कविता चाहती है संवाद-आत्मा का आत्मा से, प्रिय का प्रिय से, कटु का मधु से, कल्पना का यथार्थ से, शिल्प का कथ्य से, इंद्रियों का इंद्रियों से, सुख का दुःख से, रूप का अरूप से, भाव का रस से, अतीत का वर्तमान से, परंपरा का प्रयोग से-मनुष्य का मनुष्य से।[7] अनामिका खुद भी स्वीकार करती हैं- ऐसा नहीं है कि कोई बोकराद चीज है कविता- जीवन के छोटे प्रसंग, छोटी-से-छोटी विडंबना फकत एक कौंध में उसे अभिव्यक्त करनी होती है! दर्जी की सुई, बढ़ई के रंदे, लोहार की हथौरी से क्षिप्रता, पुख्तापन और गर्म प्रहार करने की ताकत लेकर वह आती है। लोक जीवन से ही ऊर्जा ग्रहण करती है, फिर उससे कटकर रहने का सवाल कहां उठता है? लोक भी उससे कटकर नहीं रहता।[8] और स्त्री भी इसी लोक-जीवन का अंग है

समाज की आधी आबादी है। रमण कुमार सिंह लिखते हैं - ...अनामिका की कविताओं में जहां लोक-स्मृतियों की अनुगूँज सुनाई देती है वहीं शांत-सी सतह के नीचे एक प्रच्छन्न बेचैनी भरा तनाव मौजूद रहता है जो स्त्री-जीवन के बीहड़ यथार्थ और विकास केअंतर्विरोधों से उपजता है।[9]

'दूब-धान' की कविताओं के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए समीक्षक रंजीत वर्मा कहते हैं- इस संग्रह की कविताएँ विद्रोह नहीं करतीं हालाँकि यहाँ कुछ प्रश्न हैं जो स्त्री के संघर्ष, उसके समर्पण, उसकी दिनचर्या, उसकी देह से उठ खड़े होते हैं लेकिन हर बार किसी-न-किसी हास, इतिहास या प्रागैतिहास के किसी बिंदु पर जाकर गिर जाते हैं। देशज शब्दों या जीवन से बाहर छुटती जा रही चीज़ों जैसे कि कुंडी, बट बाबा, ठोंगा, मनिहारिन, चुटपुटिया बटन, बोरसी, हाबडीब, चौका आदि या फिर कहावतों, मुहावरों, उक्तियों के सहारे या उनकी काट में लोक जीवन को उकेरती ये कविताएँ स्त्री प्रसंगों के कटु अनुभवों और सपनों को रचने की कोशिश करती हैं। आम्रपाली से लेकर आज की सेक्स वर्कर्स तक और तुलसीदास की पत्नी रत्ना से लेकर आज के गृहस्थ जीवन में अटकी-फंसी स्त्री तक के दिक-काल में विस्तार पाती इन कविताओं में खुद को बचा लेने की व्यूहरचना भर नहीं दिखती बल्कि अपने होने के अर्थ को आकार देती रचनात्मक शक्ति भी दिखती है।[10]

कहना न होगा कि ये स्त्री ही होती है जो सारे दुःख-दर्द, अपमान, पीड़ा, तमाम घुटन और कुंठा के बीच हंसती रहती है। बावजूद इन सब परेशानियों के स्त्रियां हंसती हुई दिखती हैं। उनकी यह हंसी दरअसल नए जमाने का ड्रेस कोड है 'चौदह बरस की सेक्स वर्कर्स' में अनामिका कहती हैं- हां, हम हमेशा खुश रहती हैं!/ हंसती हुई दिखती हैं हम हर और-/ टीवी में, सारे मुखपृष्ठों/ चौराहों पर!/ पिटकर या खटकर या छंटकर भी/ निकली हों कहीं किसी घर से तो जाहिर नहीं होने देती![11]

नए जमाने का घूंघट हंसी ही है/ सब औरतों केमुंह पर यह पड़ी है-/ एक नये ड्रेसकोड की तरह![12]

खाये ही जाती है/ शाम से सुबह तक/ खूब मिर्चीदार गालियां/ ऊपर थप्पड़, घूंसे, डांट, ताने-बोनस में/ बाई वन, गेट वन फ्री/ और ज्यादातर तो सैंपल में मुफ्त-बंटी-/ बस यों ही।[13]

कहना न होगा कि स्त्री की ही भांति समाज का सर्वहारा वर्ग भी इसी स्थिति का पोषक है। अतः कहा जा सकता है कि स्त्री इस अर्थ में सर्वहारा है यों हमारे समाज में स्त्री की स्थिति सर्वहारा से कुछ ज्यादा भी नहीं, बल्कि उससे भी बदतर है। मंगलेश डबराल शोषण की शिकार हुई 'एक स्त्री' के विषय में लिखते हैं- किसी चट्टान के पीछे/ सन्नाटे में एकाएक एक स्त्री सिसकती है/ अपनी युवावस्था में/ अगले ही दिन आने वाले/ बुढ़ापे से बेखबर।[14] आज जबकि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है लेकिन पुरुष मानसिकता में आज भी कोई विशेष बदलाव परिलक्षित नहीं होता वह स्त्री को अपने पैर की जूती से ज्यादा कुछ नहीं समझता उसके अनुसार तो स्त्री उसका शाषित प्रदेश है। यथा–

घर में घुसते ही/ जोर से दहाड़ते थे मालिक और एक ही डांट पर/एकदम पट्ट/ लेट जाती थीं वे/दम साध कर।[15]

पीठ नीली / चेहरा पीला/लाल आंखें और/जख्म हरे-/कुदरत के सब रंगों की बोतल/ उलट-पलट जाती है मुझ पर/ उनकेआते ही![16]

उपरोक्त विसंगतियों के संदर्भ में रामेश्वर द्विवेदी लिखते हैं- आधुनिकता की आंधी में भीतर-बाहर के युद्ध, स्त्री-असमानता के व्यूहात्मक यथार्थ और प्रतिगामी संत्रासों से जूझती आधी दुनिया के खुरदुरे यथार्थ की जटिलताओं को 'कविता में औरत' के बहाने अनामिका ने बेखौफ तरीके से खुरचा है स्त्री-विमर्श के विभिन्न कोणों की तलाश और स्त्री-स्वतंत्रता केमूल बिंदुओं को बेहतर रूप से रेखांकित किया है।[17] वे आगे लिखते हैं -अनामिका भारतीय वाङ्मय में नारी पात्रों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृति के अन्वेषण के साथ, आयातित और आक्रामक सभ्यता के साथ फ़ैली-बढ़ी पुरुषों को अधिक से अधिक लादने और औरतों को अधिक नंगा करने की पाश्चात्य सभ्यता के विरुद्ध सक्रिय है इस अर्थ में -'कविता में औरत' - एक शीत-युद्ध है- एक जरूरी जिहाद, यहाँ नारी-समानता की यहूदी जिद एक खामोश तनाव रचती चलती है।[18] अनामिका की विशेषता है कि वे अपने लेखन में पुरुषवादी समाज में अकेलापन महसूस करने वाली लड़कियों, स्त्रियों का ज़िक्र बेबाकी से करती हैं, उनके जीवन के संत्रास को उजागर करती हैं यथा- अहानया घर है!/ राम, देख, यह तेरा कमरा है!/ और मेरा?/ ओ पगली/ लडकियां हवा, धूप, मिट्टी होती हैं/उनका कोई घर नहीं होता![19]

समकालीन समय में फैशन के दुष्प्रभाव को चित्रित करती है 'घूंघट के पट खोल रे' नामक कविता। वहीं 'चौदह बरस की दो सेक्स वर्कर्स' तथा 'गलियाँ सुन लेने का शील' आदि कविताएँ उस स्त्री के अंतर्जगत की पीड़ाओं को व्यक्त करती हैं, जो अपनी पीड़ाओं और दुःख-दर्द को अभिव्यक्त नहीं कर पातीं। उन निर्वासित स्त्रियों के लिए अनामिका की कविता बोलती है। वे 'खुरदुरी हथेलियाँ' संग्रह की 'स्त्रियां' नामक कविता में उस पुरुषवादी समाज पर प्रहार करती हैं जो स्त्री को महज एक उपभोग की वस्तु समझता है- सूना गया हमको/ यों ही उड़ते मन से/ जैसे सुने जाते हैं फ़िल्मी गाने/ सस्ते कैसेटों पर/ ठसाठस्स ठुँसी हुई बस में![20]

अनामिका स्त्री की पीड़ा को उजागर करते हुए लिखतीं हैं- दर्दों के घने बादल/आंखों में उतरते हैं/ मानस-पथ अश्रु-पिच्छल!/ भाव फिसलते हैं/ दंभों की हवा बोझिल!/ पट सारे उघड़ते हैं।[21]

पढ़ गया हमको/ जैसे पढ़ा जाता है कागज/ बच्चों की फटी कापियों का/ चनाजोरगरम के लिफाफा बनाने से पहले/ 'जाओ, जहां जाना हो जाती क्यों नहीं?[22]

एक दिन हमने कहा/ हम भी इंसान हैं-/ हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर/ जैसा पढ़ा होगा बीए केबाद/ नौकरी का पहला विज्ञापन[23]

रोज निकाला जाता है मुझको!/ रोज केंचुए की तरह गुड़ी-मुड़ी हो/ फ़ैल जाती हूं फिर से!/ वे कहते हैं ठीक-/ अपनी औकात जाननी चाहिए,/ पैर उतने पसारिए/ जितनी लंबी सौर

हो![24] 'अभ्यागत' कविता की इन पंक्तियों के संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा का कथन संगत ही प्रतीत होता है- दरअसल, खोलकर तो यही कहना है कि जो बातें स्त्री के लिए 'हौआ' हैं वे पुरुष के लिए आनंद हैं इसीलिए सारी जिंदगी, अश्लीलता और अनैतिकता स्त्री के कंधों पर बोझ-सी लदी है सर उठाना मना है, मुंह खोलने की तो बिसात ही क्या?[25] बात का चट से जवाब देना पितृसत्ता के दरबार में उतना बड़ा अपराध है जितना 'हम लड़कियां पतित होना चाहती हैं' का नटखट उद्घोष जबान लड़ाना शायद नैन लड़ाने से भी बड़ा अपराध है मानकर चला जाता है कि जबान लड़ाने की जरूरत ही दोयम दर्ज़े की लड़कियों को पड़ती है[26] और इस तरह शब्दों के कोड़ों से बिलबिलाती स्त्री के प्रतिरोध की आवाज उसके गले में ही घुटकर रह जाती है। मध्यवर्गीय डरों, असुरक्षाओं और अनकही वर्जनाओं के बीच सांस लेती स्त्री की सोच की धुरी धरी-की-धरी रह जाती है किन्तु वह हार नहीं मानती और फिर आधिपत्य, दमन और अवमानना के इस समूचे पितृसत्तात्मक मूल्य-व्यवहार से टकराती हुई स्त्री को आर्थिक आत्मनिर्भरता ही अपने बचाव का सबसे कारगर अस्त्र नजर आता है जब स्त्री शोषण और उत्पीड़न से बचना चाहती है तथा अपने अधिकारों की मांग करने लगती है, तब उसकी भाषा तथा भाव आक्रोश एवं विद्रोह से आपूरित होते हैं 'मरने की फुर्सत' नामक कविता में अनामिका व्यंग्य करती हुई लिखती हैं: बेथलेहम और यरुज़लम के बीच/ कठिन सफर में उनके/ हो जाते कई तो बलात्कार/ और उनके दुधमुंहे बच्चे/ चालीस दिन और चालीस रातें/ जब काटते सड़क पर,/ भूख से बिलबिलाकर मरते/ एक-एक कर -/ ईसा को फुर्सत नहीं मिलती/ सूली पर चढ़ जाने की भी![27]

इस भूमंडलीकृत युग में जहां कानून और व्यवस्था की धज्जियां आये दिन उड़ाई जा रही हैं तब अनामिका की चिंता है कि आने वाला कल कैसा होगा? क्या होगा? अवमूल्यित मूल्यों और संत्रस्त वातावरण में देश,काल और समाज का भविष्य क्या होगा? यथा: कस्बे का बाजार/बंद तो नहीं होगा कभी/क्योंकि/ नियति है भावों की/डलियों में शब्दों की/बिकना ही,/ अवमूल्यित होकर भी![28]

कहना न होगा कि समकालीन हिंदी महिला लेखन में अनामिका का महत्वपूर्ण स्थान है। अनामिका का शुमार उन लेखकों में हैं, जो सदियों से प्रचलित ढ़र्रे से हटकर कुछ करना चाहते हैं। उनकी रचनाएं हमारे-अपने परिवेश, प्रचलित लोग और संपूर्ण समाज के उन तमाम चीजों की आंखों देखी तस्वीर खींचती हैं, जो सामान्य से सामान्यतर होकर रह गयी हैं। अतः अनामिका सिर्फ कविता में ही नहीं, बल्कि अपने संपूर्ण लेखन में नारी-दृष्टि की एक उदार सांस्कृतिक प्रवक्ता बनकर उभरी हैं। उनका स्वर नयी सहस्राब्दी का स्वर है, जिसकी थिर हलचलों में कुलबुलाते कोमल सवाल अपनी तमाम फ़ितरतों के साथ स्थापित विमर्श को अस्थिर करते चले जाते हैं।[29]

संदर्भ-सूची

1. उपाध्याय डॉ. विश्वंभरनाथ, समकालीन हिंदी कविता की भूमिका, पृष्ठ. 27
2. शुक्ल प्रयाग,अधूरी चीज़ें तमाम,पृष्ठ. 65
3. प्रगतिशील वसुधा 75, अक्टूबर-दिसंबर 2007, पृष्ठ. 292
4. समीक्षा, अप्रैल-जून 2006, पृष्ठ. 27
5. अनामिका, समय के शहर में, पराग प्रकाशन, 1990, दिल्ली,पृष्ठ. 95
6. अक्षरा, मई-जून 2007, पृष्ठ. 14
7. अनामिका, अनुष्टुप, कितावघर प्रकाशन, 1998, नई दिल्ली,पृष्ठ. 7
8. www.anyatha.com
9. इंडिया टुडे, 13 फरवरी 2002
10. इंडियाटुडे, 13फरवरी 2008,पृष्ठ. 56-57
11. अनामिका,दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ, 2007, नई दिल्ली, पृष्ठ. 70
12. पूर्वोक्त
13. पूर्वोक्त,गालियांसुनलनेकाशील, पृष्ठ. 77
14. डवराल मंगलेश, पहाड़ पर लालटेन, पृष्ठ. 21
15. अनामिका, खुरदुरी हथेलियां(पतिव्रता), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली,पृष्ठ. 27
16. पूर्वोक्त, टूटी-विखरी और पिटी हुई, पृष्ठ. 46
17. अनभै सांचा, जनवरी-मार्च 2006, पृष्ठ.137
18. अनभै सांचा, जनवरी-मार्च 2006, पृष्ठ.137
19. खुरदुरी हथेलियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली, पृष्ठ.12
20. पूर्वोक्त, पृष्ठ. 13
21. अनामिका, शीतलस्पर्श एक धूप को (वरसात का एक दिन), अमिताभ प्रकाशन, 1975, मुजफ्फरपुर, पृष्ठ. 12
22. आजाद औरत कितनी आजाद, सागर शैलन्द्र/गुप्त रजनी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ट- 8
23. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन,2005, नई दिल्ली,पृष्ठ. 13
24. अनामिका, (अभ्यागत) कवि ने कहा, पृष्ठ. 68
25. पुष्पा मैत्रेयी, खुली खिड़कियां, सामयिक प्रकाशन, 2002, दिल्ली, पृष्ठ. 173
26. संवेद, अक्टूवर 2009, पृष्ठ. 17
27. अनामिका, दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ, 2007, नई दिल्ली, पृष्ठ.28
28. अनामिका, गलत पते की चिट्ठी (वृद्देदर्जा), विहार ग्रंथ कुटीर, 1979, पटना, पृष्ठ. 22
29. अनामिका, दूब-धान, फ्लैप, भारतीय ज्ञानपीठ, 2007, नई दिल्ली

अरुण होता

जन्म : ओड़िशा के सोनपुर जिले के एक गाँव केशलपुरा में।

शिक्षा : बी. ए. (हिंदी प्रतिष्ठा) और एम. ए. तक की पढ़ाई ओड़िशा के विभिन्न शहरों से, विश्वभारती, शांतिनिकेतन से हिंदी साहित्य में पीएच.डी.। बी. ए. (प्रतिष्ठा) और एम. ए. में प्रथम स्थान।

प्रकाशित कृतियाँ : 'ब्रजबुलि की भाव-संपदा', 'तुलनात्मक साहित्य : हिन्दी और उड़िया के परिप्रेक्ष्य में', 'आधुनिक हिंदी कविता : युगीन संदर्भ' (आलोचना) विभिन्न स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में शताधिक लेख प्रकाशित। 'हंसध्वनि', 'ओड़िया की प्रगतिशील कहानियाँ', 'मँगनी की बैलगाड़ी', 'विधवा का बेटा अनंत' (अनुवाद)

ओड़िया में भी पुस्तकें, लेख तथा अनुवाद प्रकाशित। हिंदी से ओड़िया, ओड़िया से हिंदी, एवं बांग्ला से हिंदी में अनेक कविताओं, कहानियों तथा लेखों का अनुवाद प्रकाशित।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय सहित अनेक विश्वविद्यालयों के लिए दर्जन से अधिक पाठ-लेखन प्रकाशित।

पुरस्कार-सम्मान : साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश के अखिल भारतीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार (2010) से सम्मानित।

जीविका : अध्यापन। कार्यक्षेत्र पहाड़, गाँव और महानगर। संत जोसेफ कॉलेज, दार्जिलिंग; चारुचंद्र सांध्य महाविद्यालय, कोलकाता; उत्तर बंग विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी में अध्यापन के पश्चात् इन दिनों पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय, बारासात, कोलकाता में आचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग के रूप में अध्यापनरत।

संपर्क : 2 एफ. धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता-700042 (पश्चिम बंगाल) मो. 09434884339 ई-मेल : ahota5@gmail.com

सर्वप्रिय प्रकाशन
दिल्ली